ईकाई – एक

आधुनिक भारतीय इतिहास की स्रोत सामग्री

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 आधुनिक भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक स्रोत

1.3.1 अधिनियम एवं कानून

1.3.2 सरकारी रिपोर्ट

1.3.3 गैर-सरकारी सामग्री

1.4 आधुनिक भारतीय इतिहास के देशी स्रोत

1.4.1 भारतीय पुनर्जागरण के स्रोत

1.4.2 विद्रोहों, किसान आन्दोलनों एवं जनजाति संघर्षों से संबन्धित सामग्री

1.4.3 राष्ट्रीय आन्दोलन के दस्तावेज़

1.5 समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ

1.6 सारांश

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारत में आधुनिक इतिहास लेखन का आरम्भ ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के साथ जुड़ा हुआ है. ऐसा भी नही है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व भारतीयों में इतिहास दर्शन का पूर्णत: अभाव था. फिर भी स्रोतों की खोज तथा उनके अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर इतिहास लिखने की एक आधुनिक परम्परा का आरम्भ भारत में उन्नीसवीं शताब्दी तक नही था. प्राचीन भारत मे जहाँ तथ्यों एवं कालक्रम को महत्व नही दिया जाता था, वहीं फारसी में लिखित मध्यकालीन इतिहास में तथ्यों की सत्यता की जाँच का कोई तरीका विकसित नही हुआ. इसके विपरीत यूरोप में आधुनिकता के उदय ने एक नवीन इतिहास चेतना को जन्म दिया. उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इतिहासकार रैंके ने इतिहासकारों का आह्वान करते हुए कहा कि हमें इतिहास का वह रूप दिखाना चाहिए जैसा वह सचमुच

था. इस विचार ने यूरोप में इतिहास लेखन के लिये तथ्यों के संकलन को सबसे महत्वपूर्ण बना दिया. शीघ्र ही यह विचार कि सही इतिहास केवल तथ्यों के आधार पर ही लिखा जा सकता है, महत्वपूर्ण हो गया. इस विचार ने इतिहास लेखन में स्रोतों के महत्व को सर्वोपरि बना दिया. भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना के साथ यह विचार आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन का वैचारिक आधार बन गया. शीघ्र ही यूरोप की भाँति भारत में भी संग्रहालयों की स्थापना की जाने लगी जहाँ सरकारी दस्तावेज़ों को रखा जाता था. 20सवीं सदी तक इतिहास लेखन मे सरकारी स्रोतों के अतिरिक्त अन्य सामग्री का भी प्रयोग इतिहास लेखन में किया जाने लगा. आगे हम आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन के विभिन्न स्रोतों के बारे में जानेंगे.

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के विभिन्न स्रोतों के बारे मे जानकारी प्राप्त करना है. ये स्रोत प्राथमिक रूप से दो भागों में बाँटे जा सकते हैं – सरकारी और गैर-सरकारी दस्तावेज़. सरकारी दस्तावेज़ों में विभिन्न अधिनियम एवं कानून, सरकारी रिपोर्ट, अधिकारियों के पत्र तथा पुलिस एवं गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट आदि को शामिल किया जा सकता है. वहीं गैर-सरकारी स्रोतों में अधिकारियों के निजी पत्रों एवं समाचार पत्रों को रखा जायेगा. आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों को औपनिवेशिक एवं देसी स्रोतों के आधार पर भी वर्गीकृत कर सकते हैं. औपनिवेशिक स्रोतों में सरकार, सरकारी अधिकारियों एवं दूसरे कर्मचारियों से जुड़ी सरकारी एवं गैर-सरकारी सभी सामग्री को रखा जायेगा. देशी स्रोतों मे मुख्य रूप से विद्रोहों, किसान एवं जनजाति आन्दोलनों एवं राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ी सामग्री आती है. इसके अलावा क्षेत्रीय भाषाओं के अखबारों एवं साहित्य की भी राष्ट्रीय आन्दोलन मे अहम भूमिका रही है. आगे इन सभी के बारे में हम विस्तार से चर्चा करेंगे.

1.3 आधुनिक भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक स्रोत

भारत में ब्रिटिश शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1757 ई. में प्लासी की सफलता के साथ आरम्भ हुआ. हम जानते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार द्वारा संचालित नही थी जैसे कि फ्रांसीसी कम्पनी थी. अत: बंगाल स्थित गवर्नर को इंग्लैण्ड मे बैठे अपने आकाओं से लगातार निर्देश लेने होते थे. साथ ही भारत शासन से सम्बन्धित प्रत्येक जानकारी एवं सूचना को भेजना भी अनिवार्य था. 1773 ई. के रेग्यूलेटिंग एक्ट के माध्यम से एवं इसके पश्चात दूसरे अधिनियमों के ज़रिये ब्रिटिश सरकार ने भी भारत के शासन पर नियंत्रण करना आरम्भ कर दिया. 1857 के पश्चात तो भारत का शासन सीधे ब्रिटिश संसद के अधीन हो गया. इस सब के परिणामस्वरूप विशाल लिखित स्रोत सामग्री इतिहासकारों के लिये उपलब्ध हो सकी. इस खण्ड में हम इसी सामग्री का अध्ययन करेंगे.

1.3.1 अधिनियम एवं कानून

भारत में कम्पनी राज के एकदम आरम्भिक काल (1757-1772) के पश्चात भारत का ब्रिटिश शासन ब्रिटिश संसद के निर्देशन एवं नियंत्रण से ही चलता था. ब्रिटिश क्राउन ने 1599 ई. में कम्पनी को भारत में व्यापार का एकाधिकार दिया था. तभी से कम्पनी इस

एकाधिकार को बनाए रखने के लिये लगातार ब्रिटिश शासकों पर निर्भर थी. 18वीं सदी एवं 19वीं सदी के आरम्भ में हरेक बीस वर्ष के पश्चात कम्पनी को अपना एकाधिकार बनाए रखने के लिये संसद की अनुमति प्राप्त करनी पड़ी थी. भारत में कम्पनी राज की स्थापना के पश्चात ब्रिटिश सरकार ने भारतीय शासन के लिये निर्देश देना भी आरम्भ कर दिया. सर्वप्रथम 1773 ई. में ब्रिटिश संसद ने रेग्यूलेटिंग पास कर कम्पनी के भारतीय शासन में हस्तक्षेप का आरम्भ किया. इसके माध्यम से बंगाल के गवर्नर जनरल की एक परिषद की स्थापना की गई तथा कलकत्ता में उच्चतम न्यायालय बना. परंतु यह अधिनियम भारतीय शासन को सुव्यवस्थित करने में नाकाम रहा, अत: शीघ्र ही 1784 ई. में पिट्स इंडिया एक्ट लाना पड़ा. इन अधिनियमों के माध्यम से इतिहासकार भारत के कम्पनी राज पर ब्रिटिश शासन के बढ़ते नियंत्रण का अध्ययन करते हैं. 19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारत में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार की आलोचना होने लगी थी. इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण ब्रिटेन में मुक्त व्यापार की विचारधारा के उदभव से था. एड्म स्मिथ नें अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ 'दी वेल्थ ऑफ नेशंस' के माध्यम से इस विचारधारा को सशक्त आधार दिया था. ये विचार भारतीय शासन पर भी प्रभाव डाल रहे थे. फलस्वरूप 1813 ई. में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को सीमित कर दिया गया और 1833 ई. में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को पूर्णत: समाप्त ही कर दिया गया. ब्रिटेन में उदारवादी विचारधारा के उदय ने भी भारत पर एक व्यापारिक कम्पनी के शासन को कटु आलोचना का पात्र बना दिया था. 1857 के विद्रोह ने यह अवश्यंभावी बना दिया कि भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन सीधे अपने हाथ मे ले ले. अब भारत का शासन ब्रिटिश संसद प्रत्यक्ष रूप से एक वायसराय के माध्यम से चलाने लगी. परंतु उभरते राष्ट्रीय आन्दोलन के दबाव में लगातार भारतीय शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिये संसद को भारत सरकार अधिनियम पास करने पड़ते थे. इन अधिनियमों को पास करने के पूर्व संसद भारत की सरकार से व्यापक विचार-विमर्श करती थी. अधिनियमों को ब्रिटिश संसद मे रखना पड़ता था जहाँ सदस्य प्रत्येक धारा पर बहस करते थे. इसप्रकार भारत में औपनिवेशिक राज से संबन्धित विशाल लिखित सामग्री एकत्र हो गयी. इसमें से अधिकांश सामग्री इंग्लैण्ड स्थित इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी मे सुरक्षित है.

हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि भारत के दैनंदिन प्रशासन मे हस्तक्षेप करना या इस पर नियंत्रण रखना संसद अथवा क्राउन के लिये भी सम्भव नही था. अत: भारत मे शासन के मूलभूत सिद्धांत तो ऊपर वर्णित अधिनियमों द्वारा तय होते थे परंतु वास्तविक शासन एवं उसकी विभिन्न समस्याओं से वायसराय तथा ब्रिटिश अधिकारियों को ही दो-चार होना पड़ता था. अत: गवर्नर जनरल अथवा वायसराय की परिषद भारत पर शासन के लिये विभिन्न कानून या रेग्यूलेशन बनाती थी. आपने सती प्रथा समाप्त किये जाने वाले कानून के बारे में पढ़ा होगा. यह कानून गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक के समय में बना था. हम यह भी जानते हैं कि इस कानून को बनवाने के लिये राजा राममोहन राय के नेतृत्व में भारतीयों के एक वर्ग का भी सरकार पर दबाव था. इस तरह कुछ कानून तो भारतीयों की राय या सहमति से बनते थे, परंतु अधिकाँशत: ऐसा नही था. उदाहरणस्वरूप बंगाल में स्थाई बन्दोबस्त लागू करने के लिये लार्ड कार्नवालिस ने भारतीयों की सलाह नही ली थी. बाद में भूराजस्व के दूसरे कानून बनाने में भी सरकार ने ब्रिटिश अधिकारियों के बीच ही विचार-विमर्श चलाया. फिर भी सरकारी अधिकारियों में भारत के प्रशासन को लेकर अक्सर काफी चर्चा होती थी. इसके

परिणामस्वरूप सरकारी स्रोत सामग्री का एक विशाल भंडार तैयार हो गया. इस तरह की अधिकाँश सामग्री को कालांतर में अभिलेखागारों एवं पुस्तकालयों को स्थानांत्रित कर दिया गया.

1.3.2 सरकारी रिपोर्ट

सरकारी रिपोर्ट दो तरह की होती हैं – एक तो दैनिक रिपोर्ट, जिसे मुख्यत: पुलिस या गुप्तचर विभाग द्वारा तैयार किया जाता था; दूसरी, किसी विशेष विषय के अध्ययन की रिपोर्ट. औपनिवेशिक शासन एक सुदृण सूचना तंत्र के आधार पर टिका हुआ था. उपनिवेशवाद के प्रारम्भिक चरण में तो सूचना का मूल स्रोत भारतीय ही थे, परंतु धीरे-धीरे अंग्रेज़ों का भारतीयों से विश्वास उठ गया. इसका एक प्रमुख कारण 1857 का विद्रोह था. इस विद्रोह से सूचना के लिये भारतीयों पर निर्भरता की असफलता सामने आ गई. इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद के उदभव एवं विकास ने भी सूचनाओं के लिये भारतीयों पर पूर्ण निर्भरता को असम्भव बना दिया. अत: भारत सरकार ने सूचनाओं के लिये गुप्तचर विभाग का पुनर्गठन किया ताकि विद्रोही, राष्ट्रवादी एवं क्रांतिकारी भारतीयों की गतिविधियों की व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सके और भारत में ब्रिटिश शासन को अक्षुण्य बनाया जा सके. इन गुप्तचर सूचनाओं को प्रांतीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर विश्लेषित एवं संकलित करने की सुसंगठित प्रणाली थी. ज़िला स्तर पर सूचनाओं को एकत्र करने का कार्य लोकल इंटिलिजेंस अथवा पुलिस के हाँथ में था. इन सारी सूचनाओं का विश्लेषण एवं इन पर रिपोर्ट बनाने का कार्य गुप्तचर या पुलिस विभाग के अधिकारियों के ही पास होता था. इन रिपोर्टों से हमें न केवल सरकारी दृष्टिकोंण का ही पता चलता है, बल्कि विद्रोहियों एवं आन्दोलनकारियों के संबन्ध में भी व्यापक जानकारी मिलती है.

एक दूसरे प्रकार की रिपोर्टें भी हैं, जिन्हें अक्सर भारत की विशिष्ट समस्याओं के परिपेक्ष में तैयार किया गया था. ये रिपोर्टें एकप्रकार से व्यापक अध्ययन के पश्चात तैयार की जाती थीं. अत: विशिष्ट विषयों के अध्ययन के लिये इनका अत्यंत महत्व है. ऎसी नियमित रिपोर्टों में भारतीय जनगणना सम्बन्धी रिपोर्टें है, जिन्हें सेंसस रिपोर्ट कहा जाता है. ब्रिटिश भारत में पहली जनगणना 1872 ई. में हुई, परंतु राष्ट्रीय स्तर पर पहली व्यापक जनगणना 1882 से आरम्भ हुई. इसके पश्चात तो प्रत्येक दस वर्षों के अंतराल पर भारत में जनगणना होती थी. इन जनगणनाओं के माध्यम से न केवल भारतीय जनांकिकी एवं उसमें परिवर्तनों का ही अध्ययन किया जा सकता है, बल्कि भारतीय जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय एवं भाषाई विभिन्नताओं को भी जाना जाता है. दरअसल ब्रिटिश शासन नें भारतीय जनगणना में जाति एवं धर्म को एक प्रमुख पहचान की भाँति प्रयोग किया जबकि यूरोप में ऎसा नही किया गया था. इस तरह भारतीयों को पहचानों में बाटने से कालांतर में साम्प्रदायिक एवं जातीय राजनीति को प्रोत्साहन ही मिला. जनगणना के अलावा कुछ दूसरी रिपोर्टें भी बनाई गई जो नियमित तो नहीं थीं, परंतु किसी भी तरह कम महत्व की नही थीं. उन्नीसवी सदी के अंतिम दशकों में भारत में भीषण अकाल पड़े थे. भारतीय समाचार पत्रों में इन अकालों के लिये ब्रिटिश नीति को दोषी ठहराया जा रहा था. सरकार ने इन आलोचनाओं का जवाब देने के लिये अकाल कमीशनों का गठन किया, जिन्होंने भारतीय कृषि, मानसून एवं फसलों का अध्ययनकर महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई. इसीप्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था तथा उद्योगों के अध्ययन के लिये भी कमीशनों का गठन किया गया.

1.3.3 गैर-सरकारी सामग्री

निश्चित ही औपनिवेशिक काल के अध्ययन के लिये हमारे पास विशाल सरकारी स्रोत सामग्री का भंडार है, परंतु इस काल के लिये गैर-सरकारी स्रोतों की भी कमीं नही है. गैर-सरकारी स्रोतों में ब्रिटिश भारत के प्रशासन से जुड़े अधिकारियों के भारत-सम्बन्धी अध्ययनों, अधिकारियों के आपसी एवं निजी पत्र-व्यवहार तथा आत्मकथाओं आदि को रखा जा सकता है. भारत में उपनिवेशवाद के आरम्भिक चरण के अनेक अधिकारियों की भारत को जानने में गहरी रूचि थी. इन अधिकारियों को अक्सर प्राच्यवादी (Orientalist) कहा गया है. इनमें से अनेक ने भारतीय धर्मों, समुदायों, भाषाओं, साहित्य एवं संस्कृति का गहन अध्ययन किया और पुराने इतिहास ग्रंथों को प्रकाश में लाने की महति भूमिका अदा की. अगले अध्याय में हम इन अधिकारियों एवं इनके अध्ययनों के बारे में कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे. यहाँ हमारे लिये ये बात जान लेने की है कि उनके अध्ययनों से हमें उपनिवेशवाद के उस चरण में अंग्रेज़ शासकों की विचारधारा पर व्यापक सामग्री मिल जाती है.

गैर-सरकारी स्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण शासकों एवं महत्वपूर्ण अधिकारियों के निजी पत्र एवं आत्मविवरण तथा आत्मकथाएँ आती हैं. ऎसे निजी पत्र एवं विवरण अक्सर अप्रकाशित ही रह जाते हैं. अत: इतिहास लेखन के लिये उन्हें प्राप्त करना एवं उनका प्रयोग इतिहासकार के निजी प्रयासों तक सीमित है. फिर निजी पत्रों एवं विवरणों की सूचनाओं की वस्तुनिष्टता की जाँच करना भी आसान कार्य नही है. फिर भी, ये हमारे लिये अधिक महत्व के इसलिये है क्योंकि इनसे अक्सर जो सूचनाएँ मिलती हैं वे अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं होती. इस प्रकार के कुछेक स्रोतों को प्राप्त कर विभिन्न पुस्तकालयों में रखा गया है जहाँ इनका अध्ययन किया जा सकता है. इतिहासकारों ने अनेक पुराने निजी पत्रों एवं लेखों को संपादित अथवा पुनर्संपादित कर प्रकाशित भी किया है.

1.4 आधुनिक भारतीय इतिहास के देशी स्रोत

जहाँ सरकारी एवं गैर-सरकारी औपनिवेशिक स्रोत सामग्री भारत में ब्रिटिश नीतियों, औपनिवेशिक विचारधाराओं, शासकों की निजी सोच आदि के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण है वहीं भारतीय स्रोत सामग्री से उपनिवेशवाद के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का पता चलता है. निश्चित ही यह प्रतिक्रिया एक तरह की नही थी. भारतीयों के एक वर्ग ने ब्रिटिश शासन का स्वागत किया, क्योंकि उनका मानना था कि आधुनिक पश्चिमी सभ्यता अधिक विकसित एवं प्रगतिशील है. एक अन्य वर्ग, जो कहीं अधिक जागरूक था, ने पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण नही किया, वरन तर्क एवं बुद्धि के आधार पर इसका विश्लेषण किया. इस वर्ग का भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं अतीत में भी विश्वास था. अत: इन्होंने पूर्व एवं पश्चिम के विलय से आधुनिक भारतीय सभ्यता के विकास की वकालत की. तीसरे वर्ग में हम उन भारतीयों को रख सकते हैं जिन्होंने आधुनिक सभ्यता का विरोध किया. ये तीनों ही विचारधाराएँ विभिन्न विद्रोहों एवं आन्दोलनों में देखी जा सकती हैं. आगे हम भारतीय प्रतिक्रिया से सम्बन्धित सामग्री का विश्लेषण करेंगे.

1.4.1 भारतीय पुनर्जागरण के स्रोत

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना भारत में आधुनिक सभ्यता का आरम्भ भी था. अत: भारतीयों के एक वर्ग ने पुरानी पड़ चुकी और सड़ी-गली मान्यताओं को त्यागने के लिये आन्दोलन किये. इसका अर्थ यह कदापि नही था कि भारतीयों ने आधुनिकता को उसी रूप मे स्वीकार कर लिया जैसे यूरोप में उसका विकास हुआ था. तथापि भारतीय पुनर्जागरण के वाहकों ने प्राचीन भारतीय सभ्यता के साथ-साथ आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का मूल्यांकन किया. अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिये इन भारतीयों ने अनेक संगठनों की स्थापना की. इन संगठनों की प्रत्येक कार्यवाही को लिखित रूप से रखा जाता था. हमें ब्रहम समाज, देव समाज, प्रार्थना समाज आदि संगठनों के लिखित दस्तावेज़ उपलब्ध हैं. इन संगठनों एवं इनके नेताओं नें अपनी मांगों को लेकर ब्रिटिश सरकार को मांगपत्र अथवा ज्ञापन दिये. भारतीय पुनर्जागरण के नेता अपने विचारों एवं मांगों को प्रचारित करने के लिये पत्र-पत्रिकाएँ भी निकालते थे. उदाहरणस्वरूप राममोहनराय ने अपने विचारों के प्रसार के लिये मिरात-उल-अख़बार एवं संवाद कौमुदी नामक पत्र निकाले. इसप्रकार भारतीय पुनर्जागरण के सम्बन्ध में हमें व्यापक सामग्री मिलती है.

1.4.2 विद्रोहों, किसान आन्दोलनों एवं जनजाति संघर्षों से संबन्धित सामग्री

भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के आरम्भ से ही भारतीयों ने उपनिवेशवाद का विरोध करना आरम्भ कर दिया. ब्रिटिश विरोधी आरम्भिक संघर्षों में किसान आन्दोलनों, जनजातियों के संघर्षों के अलावा संगठित एवं गैर-संगठित विद्रोहों को रखा जाता है. इसप्रकार का पहला ब्रिटिश विरोधी संघर्ष बंगाल का सन्यासी विद्रोह या फ़कीर आन्दोलन था. यह संभवत: असंगठित विद्रोह था. संगठित विद्रोह में हम वहाबी आन्दोलन को रख सकते हैं, जिसका उद्देश्य भारत में एक मुस्लिमराज की स्थापना करना था. फिर भी इन आन्दोलनों को संगठित एवं गैर-संगठित जैसी श्रेणीयों में विभाजित करना त्रुटिपूर्ण हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के अधिकांश विद्रोहों के लिखित दस्तावेज़ या तो नही मिलते या अति अल्प हैं. ऐसी समस्या का सामना इतिहासकारों को इसप्रकार के सबसे व्यापक विद्रोह यथा – 1857 के विद्रोह में भी करना पड़ता है. फिर भी इतिहासकारों ने इन विद्रोहों के अध्ययन के लिये नवीन सामग्रियाँ खोज निकाली हैं. भले ही सरकार की भाषा (अंग्रेज़ी) में विद्रोहों के सम्बन्ध में व्यापक जानकारी न मिले, क्षेत्रीय भाषाओं एवं दूसरी जनभाषाओं में विद्रोह के वर्णन भरे पड़े हैं. विशेषकर 1857 पर व्यापक एवं नवीन जानकारी उर्दू के स्रोतों से पता चली है. 1857 का विद्रोह निश्चित ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध व्यापक जनचेतना का परिणाम था. यह जनचेतना लोक गीतों एवं लोक स्मृतियों में अभिव्यक्त हुई. इन लोकगीतों एवं लोकस्मृतियों के कुछ प्रमाण हमें आज भी उन इलाकों की बोलियों एवं भाषाओं में मिल जाते हैं. जिनका अध्ययनकर इन विद्रोहों में शामिल लोगों तथा इससे सहानुभूति रखने वालों की चेतना एवं मानसिकता का अध्ययन किया जा सकता है.

ऊपर हमनें विद्रोहों के दस्तावेज़ों की कमी के सम्बन्ध में जिस समस्या की चर्चा की है, वही समस्या कही व्यापक रूप से किसान एवं जनजाति आन्दोलनों के सन्दर्भ में सामने आती है. किसान और जनजाति आन्दोलन के नेता या इसमें भाग लेने वाले पढ़े-लिखे नहीं थे. अत: इन आन्दोलनों के सम्बन्ध में क्षेत्रीय भाषा साहित्य भी मौन है. अत: इन आन्दोलनों के अध्ययन का एकमात्र साधन

सरकारी स्रोत ही रहे हैं जो अक्सर विद्रोहियों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि ही रखतें हैं. लोकगीतों एवं लोकस्मृतियों के अध्ययन से भी इन आन्दोलनों के बारे में बहुत कम जानकारी ही मिल पाती है. ऎसे में इतिहासकारों के एक वर्ग (सबअल्टर्न इतिहासकार) नें एक नया तरीका निकाला है. उन्होंने सरकारी स्रोतों के पुनराध्ययन एवं पुनर्व्याख्या को किसान एवं जनजाति आन्दोलनों के अध्ययन का माध्यम बनाया है. इस लेखन से कुछ उत्कृष्ट अध्ययन तो सामने आये हैं परंतु इन तरीकों को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है.

1.4.3 राष्ट्रीय आन्दोलन के दस्तावेज़

भारत में राष्ट्रवाद का उदय आधुनिक चेतना तथा उपनिवेशवाद-विरोधी भावना के प्रसार का सम्मिलित प्रभाव था. राष्ट्रवाद की राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति के रूप में 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना हुई. हलांकि इससे पूर्व ही कुछ संगठन आधुनिक राष्ट्रवाद की विचारधारा से प्रभावित होकर स्थापित किये गये थे, जिनमें दादाभाई नौरोजी द्वारा लन्दन में स्थापित ईस्ट इंडिया एसोसिएशन तथा सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी द्वारा कलकत्ता में स्थापित इंडियन एसोसिएशन प्रमुख थीं. अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रतिवर्ष दिसम्बर माह में अपना वार्षिक अधिवेशन करती थी. इस अधिवेशन में विभिन्न प्रस्ताव पास किये जाते थे तथा सरकार को प्रत्यावेदन भेजे जाते थे. कालांतर में कांग्रेस ने आन्दोलन करना आरम्भ किया, तो आन्दोलनों से सम्बन्धित सभी निर्णय व्यापक विचार-विमर्श के पश्चात ही लिये जाते थे. इन सभी बहसों एवं निर्णयों को लिपिबद्ध किया गया था. अत: राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित व्यापक दस्तावेज़ इतिहास लेखन के लिये मौजूद हैं. अखिल भारतीय कांग्रेस के अलावा दूसरे दल भी थे, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में या तो भाग ले रहे थे या अंग्रेज़ों के पिट्ठू थे. इनमें मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तथा अकाली दल आदि महत्वपूर्ण थे. इनमें से अधिकांश दलों की गतिविधियों के बारे में लिखित दस्तावेज़ उपलब्ध हैं. फिर भी कई संगठन गैर-कानूनी ढंग से अपनी गतिविधियाँ चलाते थे. इनमें मुख्यत: क्रांतिकारी संगठन एवं वामपंथी दल थे. हलांकि इन संगठनों में भी राष्ट्रवादी कार्यवाहियों के निर्णय व्यापक बहस एवं चर्चा के पश्चात ही लिये जाते थे. परंतु गैर-कानूनी होने के कारण ये संगठन अक्सर अपने दस्तावेज़ों को नष्ट कर दिया करते थे. इन संगठनों का इतिहास जानने के स्रोत या तो इनके बचे-खुचे दस्तावेज़ या सरकारी रिपोर्टें हैं, जिनसे इन संगठनों की गतिविधियों के बारे मे ज्ञात होता है.

राष्ट्रीय आन्दोलन एक अत्यंत व्यापक आन्दोलन था, अतैव इसमें काफी बड़ी संख्या में भारतीय जनता के प्रतिनिधियों ने भाग लिया. इनमें से अनेक ने अपने लेख, दस्तावेज़ तथा पत्र छोड़े हैं. उदाहरणस्वरूप केवल महात्मा ग़ाँधी के लेखों एवं भाषणों को संकलित कर 100 खण्डों में छापा गया है. इसे कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी के नाम से प्रकाशित किया गया है. हिन्दी में इसके संक्षिप्त भाग को गाँधी वाग्मय के नाम से प्रकाशित किया जा चुका है. इसके अलावा सरदार पटेल एवं भीमराव अम्बेडकर के लेखों एवं उनसे सम्बन्धित सामग्री को भी छापा जा चुका है. राष्ट्रीय नेताओं के अलावा राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े अनेक क्षेत्रीय नेताओं के लेख एवं रचनाएँ भी इतिहासकारों के अध्ययन के लिये उपलब्ध हैं. अनेक प्रांतीय एवं स्थानीय अभिलेखागारों में राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित जानकारी के असंख्य दस्तावेज़ भरे पड़े हैं.

राष्ट्रवाद से सम्बन्धित संगठनों एवं नेताओं से सम्बन्धित सामग्री से हमें नेताओं एवं संगठनों की गतिविधियों, नीतियों एवं विचारधाराओं के बारे में तो जानकारी मिलती है, परंतु उन असंख्य लोगों के बारे में, जिन्होंनें इस आन्दोलन में भाग लिया था, अधिक पता नही चलता. हाल में सबअल्टर्न इतिहासकारों नें राष्ट्रवाद से संबन्धित ऎसे सारे अध्ययनों की आलोचना करते हुए इसे इलीट इतिहास कहा है जिससे निम्न वर्ग (सबअल्टर्न) की चेतनाओं एवं आन्दोलन में उनकी भागीदारी के बारे में कुछ पता नहीं चलता है. इन इतिहासकारों ने निम्न वर्गों का इतिहास लिखने का दावा तो किया है परंतु अब तक वे इन वर्गों से सम्बन्धित नये स्रोत नहीं ढूँढ पाये हैं और उन्होंने पुराने स्रोतों की नवीन व्याख्या ही की है.

1.5 समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ

भारत में ब्रिटिश शासन के सुप्रभावों को यदि रेखांकित करना हो तो इनमें आधुनिक पत्रकारिता के आरम्भ को महत्वपूर्ण माना जा सकता है. हलांकि समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं का आरम्भ औपनिवेशिक शासन का सीधा परिणाम नही था, बल्कि भारत में आधुनिकता के प्रसार का नतीजा था. चूंकि राष्ट्रवादी विचारधारा का सीधा सम्बन्ध आधुनिकता से था, अत: आधुनिक चेतना के साथ-साथ भारत में राष्ट्रवाद का भी प्रसार हुआ. समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं का आरम्भ इसी चेतना के प्रसार का सीधा परिणाम था.

हलांकि सबसे पहले अखबार अंग्रेज़ों ने ही निकाले, परंतु शीघ्र ही भारतीयों ने भी अखबार निकालना आरम्भ कर दिया. भारतीयों ने पहले पहल अंग्रेज़ी एवं फारसी के समाचार पत्र निकाले. जहाँ फारसी पुराने शासकों की सरकारी भाषा थी, वहीं अंग्रेज़ी नये शासकों की भाषा. स्पष्ट है कि इन पत्रों का उद्देश्य सीमित एवं पड़े-लिखे उच्च वर्ग की भावनाओं को अभिव्यक्त करना या उन्हें प्रभावित करना भर था. फिर भी फारसी के कुछ समाचार पत्र निश्चय ही ब्रिटिश विरोधी भावना भड़का रहे थे. सी.ए. बेयली ने अपने एक महत्वपूर्ण अध्ययन इम्पायर एण्ड इनफॉरमेशन में यह विचार व्यक्त किया है कि 19वीं शताब्दी के आरम्भ में फारसी को सरकारी कामकाज की भाषा से हटाने में फारसी समाचार पत्रों का सरकार विरोधी रवैये का भी योगदान था. कुछ भी हो जैसे ही अंग्रेज़ी सरकारी कामकाज एवं शिक्षा की भाषा बन गई, बड़े पैमाने पर इस औपनिवेशिक भाषा में भारतीयों ने समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ निकालना आरम्भ कर दिया. राष्ट्रवादी भावना के प्रसार के साथ-साथ देशी भाषाओं मे भी अख़बार निकलने लगे. जहाँ अंग्रेज़ी के समाचार पत्र अधिक राजनयिक भाषा का प्रयोग करते थे, वहीं देशी भाषाओं में निकलने वाले समाचार पत्रों में ब्रिटिश शासन की अधिक तीखी आलोचना होती थी. उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक देशी भाषा के समाचार पत्र राष्ट्रवादी भावना के प्रसार का मुख्य माध्यम बन चुके थे. अत: ब्रिटिश राज ने उनकी आवाज़ बन्द करनें के लिये प्रेस एक्ट बनाए. फिर भी, अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं में निकलने वाले समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं राष्ट्रवाद के प्रचार का सबसे सशक्त माध्यम बने रहे. यही कारण था कि लगभग प्रत्येक राष्ट्रवादी नेता किसी न किसी समाचार पत्र से जुड़ा था. महात्मा गाँधी ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना पदार्पण यंग इंडिया और नवजीवन के संपादन से आरम्भ किया. बीसवीं सदी के तीसरे दशक के मध्य से, जब दलितों का सवाल राजनीतिक सवाल बन कर उभरा, गाँधीजी ने हरिजन

का प्रकाशन आरम्भ किया. इसप्रकार समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन मे अहम भूमिका अदा की. ये पत्र एवं पत्रिकाएँ इस काल का इतिहास जानने के अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत हैं.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. भारत में ब्रिटिश शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1757 ई. में प्लासी की सफलता के साथ आरम्भ हुआ.
2. 1857 के पश्चात भारत का शासन सीधे ब्रिटिश संसद के अधीन हो गया.
3. ब्रिटिश क्राउन ने 1599 ई. में कम्पनी को भारत में व्यापार का एकाधिकार दिया था.
4. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी नामक ग्रंथ 100 खण्डों में छापा गया है.
5. दादाभाई नौरोजी द्वारा लन्दन में स्थापित संस्था ईस्ट इंडिया एसोसिएशन थीं.

1.6 सारांश

ऊपर हमनें आधुनिक भारतीय इतिहास के विभिन्न स्रोतों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है. हमनें देखा कि उपनिवेशवाद की स्थापना के साथ भारत में लिखित दस्तावेज़ों एवं इतिहास लेखन के लिये व्यापक सामग्री का प्रादुर्भाव हुआ. इसका प्रमुख कारण आधुनिक राज का लिखित निर्देशों द्वारा संचालित होना था. आधुनिक शिक्षा एवं आधुनिक चेतना के विकास से भारतीयों ने भी विशाल लेखन सामग्री छोड़ी. इसप्रकार हमें उपनिवेशवादी विचारों, नीतियों एवं प्रक्रियाओं तथा उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों, विरोधों आदि के सम्बन्ध मे व्यापक स्रोत सामग्री उपलब्ध है.

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

1- अभिलेखागारों - दस्तावेजों को सुरक्षित रखने का स्थान

2- प्राच्यवादी (Orientalist)- पूर्वी देशों के झान में रूचि रखने वाले विद्वान

3- पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास- भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना से पूर्व का इतिहास

4- मार्क्सवादी इतिहासकार – वे इतिहासकार जो मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर इतिहास की व्याख्या करते हैं।

1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. सत्य
4. सत्य
5. सत्य

1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1- ई. श्रीधरन, इतिहास–लेख: एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2011

2- बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1998

3- सुमित सरकार, आधुनिक भारत: 1885-1947, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002

4- द्विजेन्द्रनारायण झा, प्राचीन भारत: सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1- सब्यासाची भट्टाचार्य, "कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफ़ी" सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज़ एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-19 में, नई दिल्ली: इंदिरा गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

2- रजत रे, "दी कैम्ब्रिज स्कूल" सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज़ एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-23 में, नई दिल्ली: इंदिरा गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

3- गारलैण्ड कन्नॉन, दी लाइफ़ एंड माइंड ऑफ ओरियण्टल विलियम जोंस: सर विलियम जोंस, दी फ़ॉदर ऑफ माडर्न लिंगविस्टिक्स, न्यूयार्क: कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1990

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1- आधुनिक भारतीय इतिहास की स्रोत सामग्री पर चर्चा कीजिए।

ईकाई – 2

भारतीय इतिहास एवं इतिहास–लेखन का औपनिवेशिक मत

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 यूरोपीय इतिहास-लेखन एवं आधुनिक इतिहास-लेखन में संबन्ध

2.3.1 प्राच्यवादियों द्वारा भारतीय अतीत की खोज

2.3.2 उपयोगितावादी इतिहास-लेखन

2.3.3 उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य साम्राज्यावादी इतिहास-लेखन

2.3.4 आरम्भिक बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन

2.3.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन में कैम्ब्रिज स्कूल

2.4 यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण

2.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन के प्रभाव

2.6 सारांश

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

2.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

सर्वप्रथम हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि इतिहास-लेखन के यूरोपीय मत से हम क्या समझते हैं. मूलतः इतिहास लेखन की वह परम्परा जो औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा आरम्भ की गयी, और जिसका मुख्य लक्ष्य भारत में ब्रिटिश शासन की उपस्थिति को तर्कसंगत ठहराना था, को इतिहास-लेखन का यूरोपीय मत कहा जाता है।

सामान्यत: इतिहास लेखन के यूरोपीय मत को यूरोपीय इतिहास-लेखन या विचारधारा के आधार पर साम्राज्यवादी अथवा औपनिवेशिक इतिहास लेखन भी कहा जाता है. हलांकि सभी यूरोपीय इतिहासकार साम्राज्यवादी विचारधारा के नहीं थे. फिर भी साम्राज्यवाद इस इतिहास-लेखन की मूल विचारधारा रही है।

यूरोपीय साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की नवीन प्रवृत्ति को हम कैम्ब्रिज स्कूल के नाम से भी जानते हैं. आगे हम यूरोपीय इतिहास-लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा उनके लक्षणों की पृथक-पृथक तथा सामूहिक रूप से चर्चा करेंगे.

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारतीय इतिहास एवं इतिहास-लेखन के औपनिवेशिक मत से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नांकित जानकारियां से भी परिचित सकेंगे :

1. यूरोपीय इतिहास-लेखन एवं आधुनिक इतिहास-लेखन में संबन्ध
2. प्राच्यवादियों द्वारा भारतीय अतीत की खोज
3. उपयोगितावादी इतिहास-लेखन
4. उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य साम्राज्यावादी इतिहास-लेखन
5. आरम्भिक बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन
6. यूरोपीय इतिहास-लेखन में कैम्ब्रिज स्कूल
7. यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण
8. यूरोपीय इतिहास-लेखन के प्रभाव

2.3 यूरोपीय इतिहास-लेखन एवं आधुनिक इतिहास-लेखन में संबन्ध

यूरोपीय इतिहास-लेखन वास्तव में आधुनिक इतिहास-लेखन की परम्परा के साथ-साथ आरम्भ हुआ. भारत में जिस परम्परागत इतिहास-लेखन का प्रचलन था उसमें तिथियों तथा तथ्यों पर अधिक ध्यान नही दिया जाता था. उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में आधुनिक इतिहास लेखन का आरम्भ हुआ. इस समय लियोपोल्ड वॉन रैंक ने प्राथमिक स्रोतों के आधार पर इतिहास लिखने पर बल दिया. उनका विश्वास था कि समकालीन तथ्यों की रोशनी में ऐतिहासिक सत्य को पुनः प्राप्त किया जा सकता है. लार्ड एक्टन तथा उनके अनुनायियों नें मूल स्रोतों के आधार पर इतिहास को पुनर्गठित करने की जोरदार वकालत की. फलस्वरूप यूरोप सहित पूरी दुनिया में राष्ट्रीय अभिलेखागारों की स्थापना की जाने लगी. ताकि, मूल स्रोतों को एकत्रितकर उनका अध्ययन किया जा सके. भारत सहित उपनिवेशों में भी अभिलेखागारों, संग्राहालयों, पुस्तकालयों और पुरातत्व विभागों की स्थापना का यही प्राथमिक उद्देश्य था. फिर भी अनेक यूरोपीय इतिहासकारों ने अक्सर या तो तथ्यों को नज़रअंदाज़ किया या समूचित रूप से उनका प्रयोग ही नही किया. आगे हम यूरोपीय इतिहास-लेखन की मूल प्रवृत्तियों एवं उसके प्रमुख इतिहासकारों की चर्चा करेंगे.

2.3.1 प्राच्यवादियों द्वारा भारतीय अतीत की खोज

भारत पर यूरोपीय इतिहास-लेखन का आरम्भ अट्ठारहवीं सदी के अंत में प्राच्यवादी (Orientalist) विद्वानों के लेखों द्वारा हुआ. प्राच्यवादियों ने एक असीम उत्सुकता के साथ भारतीय अतीत की खोज आरम्भ की. परन्तु, क्रमबद्ध तथ्यों के अभाव ने प्राचीन भारत

के ऐतिहासिक पुर्नलेखन को बाधित किया. रॉबर्ट ऑर्मे अपनी रचनाओं में मुगल, मराठा या ब्रिटिश शासनकाल की ही चर्चा कर सके थे. अत: प्रख्यात प्राच्यविदों विल्किन्स तथा विलियम जोंस ने प्राचीन साहित्यिक एवं विधि की संस्कृत कृतियों के अनुवाद किये ताकि प्राचीन भारत के बारे में जाना जा सके. चार्ल्स विल्किन्स ने भगवतगीता तथा हितोपदेश का अनुवाद किया. विलियम जोंस की साहित्यिक अभिरुचि उनके बहुप्रसिद्ध अनुवाद शकुंतला से अभिव्यक्त हुयी. फिर भी, जोंस का मुख्य उद्देश्य प्राचीन हिन्दू विधि-ग्रंथों का अनुवाद करना था. इसके लिये उन्होंने पहले प्राच्यविदों में संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता विल्किन्स से अनुरोध भी किया था. विल्किन्स के रुचि ना दिखाने पर जोंस ने स्वयं संस्कृत सीखी और मनुस्मृति का अंग्रेज़ी अनुवाद किया. प्राचीन हिन्दू विधि-ग्रंथों का अनुवाद आरम्भिक कम्पनी राज के साम्राज्यवादी उद्देश्यों से जुड़ा हुआ था. इसका एक घोषित लक्ष्य हिन्दू पंडितों द्वारा विधि की मनमानी व्याख्याओं से मुक्ति पाना था. जोंस ने विधि की व्याख्या के लिये पूरी तरह पंडितों या मौलवियों पर निरभरता को एक ख़तरे की भॉति देखा. उन्होंने अंग्रेज़ प्रशासकों को भारत में प्रचलित शास्त्रीय भाषाएँ – फ़ारसी एवं संस्कृत – सीखने के लिये प्रेरित किया. इसी उद्देश्य से जोंस ने भारत आने से पूर्व ही फ़ारसी व्याकरण की एक पुस्तक भी लिखी थी. जोंस की सबसे प्रभावकारी खोज संस्कृत का समीकरण यूरोप की महान भाषाओं लेटिन तथा ग्रीक से करना था. उन्होंने संस्कृत, लेटिन, ग्रीक आदि को एक पूर्वकालीन भारोपीय भाषा की संतान बताया, जो अब लुप्त हो चुकी थी. उनका यह विचार एक उच्च, श्वेतवर्णीय एवं शासक आर्य प्रजाति के सिद्धांत से जुड़ा हुआ था. इसप्रकार यह विचार भारत मे अंग्रेज़ों के शासन की उपस्थिति को जायज़ ठहराता था. फिर भी, प्राच्यवादियों की खोजों ने भारतीय इतिहास के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में ला दिये. जोंस ने ग्रीक विवरणों में उल्लिखित सैंड्रोकोटस का समीकरण संस्कृत स्रोंतों में वर्णित चंद्रगुप्त से किया. चूकिं ग्रीक स्रोंतों में सेल्यूकस के साथ चंद्रगुप्त के युद्ध एवं संधि की तिथियाँ दी गयीं थी, अत: पहली बार प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्यकाल के आरम्भ का कालनिर्धारण संभव हो सका. प्राचीन भारतीय इतिहास को प्रकाश मे लाने में महत्वपूर्ण भूमिका एक अन्य प्राच्यविद जेम्स प्रिंसेप ने अदा की. उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उन्होंने अभिलेखों की प्राचीन ब्राह्मी लिपि को सफलतापूर्वक पढ़ लिया. इससे न केवल मौर्यकालीन महान शासक अशोक, बल्कि पालि ग्रंथों में लिखित बौद्ध धर्म का इतिहास भी सामने आ गया. इन प्रारम्भिक उपलब्धियों के बावजूद प्राच्यविद भारत का क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण नहीं दे सके और यह कार्य उनके वैचारिक विरोधियों उपयोगितावादियों के ज़िम्मे आया.

2.3.2 उपयोगितावादी इतिहास-लेखन

उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन में उपस्थित उदारवादी (Liberalism) विचारधारा का ही विस्तार थी. आर्थिक जगत में यह विचारधारा एडम स्मिथ के मुक्त बाज़ार के सिद्धांत में अभिव्यक्त हुयी. परंतु इसका दार्शनिक आधार प्रसिद्ध विद्वान जेरेमीं बेंथम ने दिया. बेंथम का विचार था कि यूरोप ने तर्क एवं बुद्धि के आधार पर प्रगति की है. बेंथम के अनुयायी एवं मित्र उपयोगितावादी जेम्स मिल का मानना था कि भारतीय संस्कृति पतित है तथा भारत के उद्धार की एकमात्र आशा तर्क-बुद्धिवाद के आधार पर निर्मित कठोर कानूनों से ही संभव है. जहाँ प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशंसा की थी,

वहीं उपयोगितावादियों ने उसकी तीखी आलोचना की. एक अन्य उपयोगितावादी मैकॉले के विचारों से आप भलिभॉति परिचित होंगे, जिसने शिक्षा के प्रश्न पर प्राच्यवादियों तथा उपयोगितावादियों के मध्य हुए वैचारिक संघर्ष में अंग्रेज़ी भाषा के पक्ष में सफलतापूर्वक तर्क दिये थे. यहाँ हम उपयोगितावादी इतिहासकार के रूप मे जेम्स मिल के विचारों की ही चर्चा करेंगे. मिल ने बारह वर्षों (1806 से 1818 के मध्य) के कठोर परिश्रम द्वारा छः खण्डों में हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया नामक पुस्तक लिखी. भारत का संपूर्ण इतिहास लिखने का यह पहला प्रयास था. हलांकि, प्राचीन एवं मध्यकाल को प्रथम तीन खण्डों में समेटा गया था, तथा शेष तीन खण्डों में ब्रिटिश भारत की चर्चा थी. इस पुस्तक का महत्व इस बात से ही साबित होता है कि लगभग आधी सदी तक यह भारत आने वाले ब्रिटिश प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिये पाठ्य पुस्तक का काम करती रही. 1818 से 1840 के मध्य चार बार इसे पुनर्मुद्रित किया गया. 1850 के पश्चात भी इसे एक महान कृति माना जाता रहा. आधुनिक भारतीय इतिहास-लेखन पर इस पुस्तक के दूरगामी प्रभाव को नज़रअन्दाज़ नही किया जा सकता. मिल ने प्राचीन भारतीय के समाजिक वर्गीकरण, धर्म, कानूनों, राजस्व प्रणाली ही नहीं, कला-साहित्य एवं रीति-रिवाज़ों की भी भर्त्सना की. उन्होंने प्राचीन संस्थाओं को मानव इतिहास की सबसे दुर्बल अवस्था का परिणाम माना. प्राचीन भारतीयों की इतिहास एवं कालक्रम की अनदेखी की, मिल ने तीखी आलोचना की. हलांकि मध्यकालीन मुस्लिम शासन को मिल ने बेहतर माना, परंतु वर्तमान ब्रिटिश शासन के सामने वह भी निकृष्ट ही था. मिल के इतिहास के दूरगामी प्रभाव के रूप में भारतीय इतिहास का काल विभाजन सबसे महत्वपूर्ण था. उन्होंने प्राचीनकाल को हिन्दूकाल तथा मध्यकाल को मुस्लिमकाल के रूप में पहचाना. हलांकि आधुनिककाल को ईसाईकाल न कहकर ब्रिटिशकाल कहा गया. मिल के इस कालविभाजन ने पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास को साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित कर दिया जिसके दुष्परिणाम हाल तक भारतीय इतिहास-लेखन को प्रभावित करते रहे हैं. सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि मिल का इतिहास तथ्यसम्मत एवं तर्कसम्मत भी नहीं था. मिल ने बिना भारत की यात्रा किये और केवल विदेशी विवरणों के आधार पर ही अपना कार्य किया था. इस इतिहास में मूल स्रोतों की उपेक्षा की गयी थी. वास्तव में मिल का इतिहास साम्राज्यवाद के नये युग की उद्घोषणा थी. उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत में ब्रिटिश शासन पर्याप्त सशक्त हो चुका था. यूरोप मे नेपोलियन की पराजय ने ब्रिटेन को सर्वोपरि शक्ति के रूप में स्थापित कर दिया था. औधोगिक क्रांति की सफलता ने आर्थिक क्षेत्र में भी ब्रिटेन को सुदृढ़ कर दिया था. ब्रिटिश सर्वोच्चता का अपार विश्वास साम्राज्यवादी दंभ मे प्रकट हो रहा था.

2.3.3 उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य साम्राज्यावादी इतिहास-लेखन

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मिल के इतिहास की आलोचना होने लगी थी. यूरोपीय इतिहासकारों ने अब भारतीय इतिहास को भारतीय स्रोतों के आधार पर लिखने का बीड़ा उठाया. इन इतिहासकारों को विचारधारा के आधार पर पुराने पड़ चुके प्राच्यवादी या उपयोगितावादी खेमों में नही रखा जा सकता. परंतु उनमें साम्राज्यवादी विचारधारा को स्पष्ट पहचाना जा सकता है. मॉउंटस्टुअर्ट एल्फिंसटन ने मूल ऐतिहासिक स्रोतों के अनुवादों के आधार पर अपने ग्रंथ हिस्ट्री ऑफ हिन्दू एंड मुहम्मडन इंडिया की रचना 1841 में की. हलांकि एल्फिंसटन ने मिल के इतिहास की निन्दा की थी, परंतु 'हिन्दू' भारत एवं 'मुस्लिम' भारत की शब्दावली

का प्रयोग करके उन्होंने मिल के कालविभाजन को स्थायित्व प्रदान कर दिया. एल्फिंसटन के इतिहास की दो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं. एक तो उन्होंने पुराणों के आधार पर मौर्यकाल से लेकर गुप्तों तक भारतीय शासकों की क्रमबद्ध वंशावलियाँ देने का प्रयास किया. दूसरे, उन्होंने प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर अधिक बल दिया. स्थानीय स्रोतों के आधार पर क्षेत्रीय इतिहास लिखने की परम्परा का आरम्भ भी यूरोपीय इतिहासकारों ने किया. इस श्रेणी में ग्रांट डफ नें मूल मराठा स्रोतों के आधार पर 1825 मे ए हिस्ट्री ऑफ दी मराठाज़ प्रकशित की. जेम्स टॉड ने राजपूत स्रोतों एवं लोकश्रुतियों के आधार पर एनल्स एंड एंटीक्वीटीज़ ऑफ राजस्थान की रचना की. फारसी मूल स्रोतों के आधार पर मध्यकालीन भारत के इतिहास को पुनर्लिखित करने के प्रयास स्वरूप आठ खंडों में रचित दी हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्'स ओन हिस्टोरियन्स सामने आई. इसे डाउसन की सहायता से ईलियट द्वारा लिखा गया था तथा यह 1857 की क्रांति के पश्चात लिखी गयी. हलांकि यह श्रृंखला वस्तुत: फ़ारसी मूल स्रोतों का अनुवाद थी, परंतु इसके प्राक्कथन में ईलियट ने तुर्क एवं मुग़ल शासकों के विरुद्ध खूब विषवमन किया. ब्रिटिश भारतीय शासकों एवं परिवर्ती भारतीय इतिहासकारों को इस ग्रंथ ने काफी प्रभावित किया. इस ग्रंथ श्रृंखला ने पहली बार वे तर्क दिये जो आज तक साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा प्रयोग किये जाते हैं.

2.3.4 आरम्भिक बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन

भारत का संपूर्ण इतिहास पाठ्यपुस्तक के रूप में लिखने की श्रृंखला का अगला अध्याय विंसेंट ए. स्मिथ की कृतियों के माध्यम से सामने आया. स्मिथ को आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के भारत का सबसे प्रभावशाली इतिहासकार माना जा सकता है. उसकी अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1904) एवं ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1919) सबसे महत्वपूर्ण कृतियॉ थीं. स्मिथ ने अपने इतिहास ग्रंथों में उस काल तक हो चुके सभी शोधों को समाहित किया. स्मिथ के ग्रंथों का महत्व इस बात से पता चलता है कि उसकी इतिहास कृतियों को सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में, जिनकी स्थापना पिछले पचास वर्षों मे हुई थी, पाठ्यपुस्तकों की भॉति पढ़ाया जाता था. स्मिथ का इतिहास, जो स्वतंत्रता के पश्चात भी भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता रहा, यूरोपीय इतिहास-लेखन की साम्राज्यवादी विचारधारा से मुक्त नही था. स्मिथ ने भारत के राजनीतिक इतिहास पर ज़रुरत से ज़्यादा बल दिया था. उसने साम्राज्यों एवं शासकों का इतिहास लिखने पर ही ध्यान दिया. मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त तथा गुप्त साम्राज्य की तो स्मिथ ने कुछ प्रशंसा की, परंतु इन शासकों को 'निरंकुश' एवं 'सर्वसत्तावादी' माना. स्मिथ ने 'प्राच्य-निरंकुशता' को ही साम्राज्यों के पतन का मूल कारण माना. स्मिथ ने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा कि प्रत्येक साम्राज्य के पतन के पश्चात भारत सदैव अराजकता के एक लम्बे युग में प्रवेश कर गया. अत: भारत मे शांति एवं समृद्धि के लिये ब्रिटिश शासन जैसी 'उदार-निरंकुश' व्यवस्था का बना रहना आवश्यक था. स्मिथ का मानना था कि यदि भारत से ब्रिटिश शासन हटा लिया गया तो देश पुन: राजनीतिक अराजकता एवं अशांति के दौर मे पहुँच जायेगा. हमें यह भलीभॉति ध्यान रखना चाहिये कि स्मिथ का काल भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उत्कर्ष का काल था. 1885 में कांग्रेस की स्थापना तथा 1905 के स्वदेशी आन्दोलन ने स्मिथ के विचारों को गहरे से प्रभावित किया था. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति आलोचनात्मक रवैया संपूर्ण बीसवीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास-लेखन की मुख्य पहचान बन गया. अल्फ्रेड लायल ने अपनी रचना

दी राईज़ एंड एक्सपेंशन ऑफ ब्रिटिश डोमिनियन इन इंडिया में भारत में ब्रिटिश शासन के आरम्भ का कारण भारतीयों में राष्ट्रीयता के अभाव को माना. दूसरी ओर, उन्होंने प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय इतिहास मे हुए विद्रोहों की तीखी निन्दा की. भारत में ब्रिटिश शासन की उपस्थिति को उचित ठहराने के लिये जॉन सील ने एक्सपेंशन ऑफ इंग्लैंड मे यह साबित करने का प्रयास किया कि भारत पर अंग्रेज़ों की विजय पूर्वनियोजित न होकर आकस्मिक थी. ये अध्ययन राष्ट्रवादियों की आलोचनाओं को गलत सिद्ध करने हेतू लिखे जा रहे थे. राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत आर्थिक दोहन के सिद्धांत को अनुचित साबित करने के लिये वेरा एन्सटे नामक महिला इतिहासकार ने दी इकानामिक डेवलपमेंट इन इंडिया (1929) लिखी. जिसमें ब्रिटिशकाल में भारतीय धन सम्पदा के दोहन के राष्ट्रवादी तर्कों को काटा गया था. कालांतर में इस विषय पर भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों और साम्राज्यवादी इतिहासकारों के मध्य लम्बी बहस चली.

2.3.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन में कैम्ब्रिज स्कूल

आधुनिक भारत पर साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का विकसित रूप कैम्ब्रिज स्कूल के रूप मे सामने आया. कैम्ब्रिज स्कूल के वास्तविक अध्ययन तो स्वतंत्र भारत में ही सामने आये, परंतु इसके बीज ब्रिटिश साम्राज्यवादी पत्रकार एवं लेखक वेलेंटाइन शिरॉल तथा अमेरिकी विद्वान ब्रूस टी. मैकुली के अध्ययनों में अभिव्यक्त हो चुके थे. इन तथा दूसरे आरम्भिक साम्राज्यवादी लेखकों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त नवीन अवसरों के लिये अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त उच्च वर्ग के संघर्ष बताया था. 1960 के दशक में जॉन गैलाघर एवं उनके छात्र अनिल सील के अध्ययनों नें कैम्ब्रिज स्कूल की आधारशिला रखी. गैलाघर के पर्यवेक्षण में अनिल सील द्वारा किया गया शोध अध्ययन इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म (1968) के नाम से प्रकाशित हुआ. सील ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अभिजात वर्गों की आपसी प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के रूप में दिखाने की चेष्टा की. अनिल सील द्वारा किया गया किया गया राष्ट्रीय आन्दोलन का यह विश्लेषण कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों के लिये दिशानिर्देशक सा बन गया. कैम्ब्रिज स्कूल इतिहास-लेखन की परम्परा का विधिवत शुभारम्भ जॉन गैलाघर, अनिल सील एवं गार्डन जॉनसन द्वारा 1973 में संयुक्त रूप से संपादित लोकॅलिटी, प्रॉविंस एंड नेशन: एसेज़ आन इंडियन पॉलिटिक्स 1870-1940 से हुआ. इस ग्रंथ ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संबन्ध में कुछेक एकदम नयी अवधारणाओं को जन्म दिया. एक, इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन को स्थानीय एवं गुटीय राजनीति के छद्म वाह्य आवरण की भॉति देखा गया था. वास्तविक राजनीतिक संघर्ष स्थानीय स्तर पर नये संविधानिक सुधारों से उत्पन्न अवसरों को लेकर हो रहे थे. दूसरे, राष्ट्रीय तथा स्थानीय नेताओं के आपसी संबन्धों की व्याख्या सोपानवत आश्रयदाता-आश्रित (पैट्रॅन-क्लॉइंट) संबधों के रूप में की गयी थी. इस विश्लेषण के अनुसार अखिल भारतीय संगठन से जुड़ाव नेताओं ने अपनी स्थानीय राजनीति चमकाने के लिये किया. तीसरी महत्वपूर्ण अवधारणा के ज़रिये राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्ष के उदभव को ब्रिटिश शासन के बढ़ते केन्द्रीकरण का परिणाम माना गया. इस ग्रंथ ने कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का जो आधार तैयार किया वह शीघ्र ही एक परम्परा की भॉति विकसित हो गया. अनिल सील की शोधछात्र ज्यूडिथ ब्रॉउन ने गॉधीजी पर किये गये अपने अध्ययन (गॉधी'ज़ राइज़ टू पॉवर, 1972) में उनके

राजनीतिक उत्कर्ष को ब्रिटिश राज से मोल-तोल कर सकनें की उनकी क्षमता से जोड़कर देखा. इस अवधारणा के तहत नेहरू, पटेल, मालवीय तथा आज़ाद को स्थानीय या अपने धर्मों के बिचोलियों की भाँति प्रस्तुत किया गया. यह विश्लेषण आश्रयदाता-आश्रित की अवधारणा की ही पुष्टि करता था. कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों ने स्थानीय अध्ययनों की बकायदा एक श्रृंखला ही आरम्भ कर दी. अनिल सील के ही एक अन्य प्रतिभाशाली शोधछात्र गार्डन जॉनसन ने बॉम्बे प्रांत के कांग्रेस संगठन पर किये गये अध्ययन (प्रोविंशियल पॉलिटिक्स एंड इंडियन नेशनलिज़्म: बॉम्बे एंड दी इंडियन नेशनल कांग्रेस 1890-1905) में नरमपंथ और गरमपंथ के वैचारिक संघर्ष को फिरोज़शाह मेहता एवं बाल गंगाधर तिलक के व्यक्तिगत संघर्ष में ढूढा. जॉनसन ने कैम्ब्रिज इतिहासकारों के शोधों को प्रकाशित करने के उद्देश्य से मॉडर्न एशियन स्टडीज़ नामक जर्नल भी संपादित किया. स्थानीय अध्ययनों में क्रिस्टोफर ए. बेली का इलाहाबाद पर किया गया अध्ययन (दी लोकल रूट्स ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स: इलाहाबाद 1880-1920) भी कम महत्वपूर्ण नहीं था. बेली ने 19वीं शताब्दी के मध्य से इलाहाबाद में राजनीतिक रूप से शक्तिशाली हुए स्थानीय वाणिज्यिक तत्वों की चर्चा की, जिसने कालान्तर में शहर में विक्सित हो रही राष्ट्रीय राजनीति से आश्रयदाता-आश्रित वाले संबन्ध बना लिये थे. फिर भी, बेली पूरी तरह कैम्ब्रिज स्कूल की स्थापनाओं से सहमत नहीं थे और कालांतर में उन्होंने पुराने उदार साम्राज्यवादी दायरे मे ही इतिहास-लेखन को प्राथमिकता दी. बल्कि, बेली ने कुछ हद तक कैम्ब्रिज स्कूल से इतर उदार साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया. दक्षिण भारत पर स्थानीय अध्ययन डेविड ए. वॉशब्रुक एवं क्रिस्टोफर जे. बेकर द्वारा किये गये. वॉशब्रुक ने 1870 से 1920 तथा बेकर ने 1920 से 1937 के मध्य दक्षिण भारत की स्थानीय राजनीति का अध्ययन किया. फ्रांसिस रॉबिंसन ने संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की मुस्लिम राजनीति की व्याख्या स्थानीय एवं गुटीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में की. कुल मिलाकर कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन ने राष्ट्रीय राजनीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की अनदेखी ही की. इन इतिहासकारों ने साम्राज्यवाद एवं राष्ट्रवाद के आर्थिक अंतर्विरोधों को नज़रअन्दाज़ कर दिया. उन्होंनें राष्ट्रवाद के उदय के लिये साम्राज्यवाद द्वारा आर्थिक शोषण के भारतीय राष्ट्रवादियों के तर्कों को नहीं माना. उनके अनुसार राष्ट्रवाद भारतीयों के आपसी सत्ता संघर्ष का परिणाम था, जो मूलत: धर्म, जाति, वर्ग एवं गुट के आधार पर संगठित थे. कैम्ब्रिज इतिहासकारों के इन दृष्टिकोंणों की आलोचना भारतीय मार्क्सवादी एवं उदारवादी दोनो विचारधारा के इतिहासकारों ने की है तथा इन इतिहासकारों पर ब्रिटिश इतिहासकार लेविस नैमियर का दृष्टिकोंण अपनाने का आरोप लगाया है. नैमियर नें ब्रिटिश संसद का इतिहास लिखते हुए सत्ता-संघर्षों की व्याख्या वैचारिक के स्थान पर व्यक्तिगत तथा गुटीय राजनीति में की थी. अपनी तमाम अवधारणात्मक कमियों के बावजूद कैम्ब्रिज इतिहासकारों ने क्षेत्रीय अभिलेखागारों मे दफ़न ऐतिहासिक सामग्री को प्रकाश में लाने के अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य को अंजाम दिया. वैसे तो 1980 तक कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का अंत हो चुका था, परंतु इसकी कुछ अवधारणाओं को लगभग इसी समय सबअल्टर्न के नाम से आरम्भ हुए एक नये इतिहास-लेखन ने आत्मसात कर लिया. हांलाकि, सबअल्टर्न अध्ययन एकदम भिन्न प्रकार का इतिहास-लेखन था तथा इसका कैम्ब्रिज इतिहास-लेखन से कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नही था.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. भारत पर यूरोपीय इतिहास-लेखन का आरम्भ अट्ठारहवीं सदी के अंत में हुआ.
2. विलियम जोंस ने भगवतगीता तथा हितोपदेश का अनुवाद किया.
3. जेम्स मिल द्वारा छः खण्डों में हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया नामक पुस्तक लिखी गयी .
4. विंसेंट ए. ने अपने ग्रंथ हिस्ट्री ऑफ हिन्दू एंड मुहम्मडन इंडिया की रचना 1841 में की.
5. स्मिथ मॉउंटस्टुअर्ट एल्फिंसटन की अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1904) एवं ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1919) महत्वपूर्ण कृतियॉ थीं.
6. 1960 के दशक में जॉन गैलाघर एवं उनके छात्र अनिल सील ने कैम्ब्रिज स्कूल की आधारशिला रखी.

2.4 यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण

ऊपर हमनें यूरोपीय इतिहास-लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों की अलग- अलग चर्चा की है. अब हम इस इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षणों की विवेचना करेंगे. सबसे महत्वपूर्ण लक्षण के रूप में कुछेक अपवादों को छोड़कर संपूर्ण यूरोपीय इतिहास-लेखन में साम्राज्यवादी विचारधारा की मौजूदगी को आसानी से पहचाना जा सकता है. भले ही प्राच्यवादियों नें प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति रुचि, सहानुभूति एवं प्रशंसा का प्रदर्शन किया था, परंतु समकालीन भारत को पतित बताया. इसप्रकार कम्पनी राज को उचित ठहराने की कोशिश की गई. उपयोगितावादियों ने तो संपूर्ण भारतीय इतिहास को ही ख़ारिज कर दिया. जहाँ मिल ने तथाकथित हिन्दू राज को निन्दनीय एवं निकृष्ट बताया, वहीं ईलियट ने तथाकथित मुस्लिम शासनकाल को अपनी आलोचना का मुख्य पात्र बनाया. उपयोगितावादियों के निष्कर्ष उनके विचार से उदार-निरंकुशता पर आधारित साम्राज्यवाद को उचित ठहराने के प्रयास मात्र ही थे. उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों या आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहासकारों ने उभरते राष्ट्रीय आन्दोलन की या तो अनदेखी की या तीखी आलोचना की. उनके अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त अभिजात वर्ग का संघर्ष था जो सत्ता में भागीदारी के अधिक अवसर के लिये चलाया जा रहा था. इसप्रकार इसका साम्राज्यवाद से कोई वैचारिक अथवा आर्थिक अंतर्विरोध नही था. कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहास-लेखन नें इस मत को और भी तर्कसंगत एवं तथ्यपरक ढंग से पुष्ट करने का प्रयास किया. इसप्रकार यूरोपीय इतिहास-लेखन अंतत: भारत मे ब्रिटिश राज के वर्चस्व को बनाए रखने के वैचारिक प्रयास ही थे.

एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण के रूप में यूरोपीय इतिहास-लेखन ने भारत में आधुनिक इतिहास-लेखन की नीव डाली. कुछेक शुरुआती अध्ययनों को छोड़कर इन इतिहासकारों नें मूल स्रोतों के आधार पर इतिहास लिखने की परम्परा का शुभारम्भ किया. भारत को समझनें के प्रयास में प्राच्यवादियों नें संस्कृत के मूल ग्रंथो का बड़े पैमाने पर अनुवाद कर डाला. एल्फिंसटन, ईलियट और स्मिथ ने मूल भारतीय स्रोतों का प्रयोग करके ही अपने ग्रंथ लिखे. डफ और टाड ने मराठा एवं राजपूत जैसे क्षेत्रीय स्रोतों को खोज निकाला. कालांतर में क्षेत्रीय स्रोतों को प्रकाश में लाने का कार्य कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों ने भी बड़े पैमाने पर किया. इसप्रकार भारतीय इतिहास-लेखन

एवं पुनर्लेखन के लिये काफ़ी सामग्री सामने आ गयी. कालांतर में राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इसी सामग्री का प्रयोग कर यूरोपीय इतिहास-लेखन की अनेक मान्यताओं को चुनौती दी.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1-..... ने तथाकथित हिन्दू राज को निन्दनीय एवं निकृष्ट बताया।

2- ईलियट ने ..... को अपनी आलोचना का मुख्य पात्र बनाया.

3- ग्रांट डफ ने ..... के क्षेत्रीय स्रोंतों को खोजा था।

4- कर्नल टाड ने ..... के क्षेत्रीय स्रोंतों को खोजा था।

2.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन के प्रभाव

फिर भी यूरोपीय इतिहास-लेखन के भारतीय इतिहास-लेखन पर पड़े दुष्परिणामों को कम करके नहीं आंका जा सकता. यूरोपीय इतिहासकारों की अनेक स्थापनाओं ने भारतीयों के मस्तिष्क पर दूरगामी परिणाम छोड़ा. प्राच्यवादियों की स्थापनाओं ने भारतीयों कों अपने विलुप्त अतीत के प्रति केवल जागरुक ही नहीं किया अपितु उनमें प्राचीन भारत की उपलब्धियों के लिये गौरव की एक भावना भी भर दी. जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसने बंगाली पुनर्जागरण को प्रभावित किया, वहीं इसी शताब्दी के अंत में उभरते हिन्दू राष्ट्रवाद के दंभ को पोषित किया. उपयोगितावादी तथा दूसरे साम्राज्यवादी यूरोपीय इतिहासकारों नें पूर्व-औपनिवेशिक भारत के इतिहास को साम्प्रदायिक आधार पर हिन्दू एवं मुस्लिम कालों मे विभाजित कर दिया. बाद के राष्ट्रवादी इतिहासकारों नें भी यूरोपीय इतिहास-लेखन की इन विकृतियों को सहज ही स्वीकार कर लिया. हिन्दू साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने इन इतिहासों के आधार पर भारत की गुलामीं को पीछे ले जाकर दिल्ली सल्तनत की स्थापना से जोड़कर देखा. भारत की आज़ादी की लड़ाई को हज़ार वर्षों की दासता से मुक्ति का संघर्ष बताया जाने लगा. दूसरी ओर मुस्लिम साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने प्राचीन भारत की तमाम उपलब्धियों को तुच्छता की दृष्टि से देखा. भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना को ही सभ्यता एवं संस्कृति के आरम्भ का हेतू बताया गया. इसप्रकार यूरोपीय इतिहास-लेखन का साम्राज्यवादी लक्ष्य सम्प्रदायवादियों के हाथों पुष्पित-पल्लवित होता रहा. यूरोपीय इतिहासकारों मे मुग़ल-राजपूत तथा मुग़ल-मराठा संघर्षों को हिन्दू-मुस्लिम संघर्षों की भॉति पेश किया. सबसे महत्वपूर्ण यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक शोषण की अनदेखी करना था. इसप्रकार भारतीय दासता के मूल लक्षण को ही नज़रअन्दाज़ किया गया. हलांकि, यूरोपीय इतिहास-लेखन को केवल साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन कह कर ख़ारिज नही किया जा सकता. कुछ लेखक तो साम्राज्यवाद के आलोचक भी थे. यहाँ हम जार्ज ऑरवेल के लेखों तथा एडवर्ड थाम्पसन एवं जी. टी. गैरेट के इतिहास (राईज़ एंड फ़ुलफ़िलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया, 1934) को साम्राज्यवादी लेखन के अपवाद के रूप में देख सकते हैं. फिर भी, यूरोपीय इतिहास-लेखन का अधिकांश भाग साम्राज्यवादी ही था.

2.6 सारांश

अब आपको जानकारी है कि इतिहास लेखन के यूरोपीय मत को यूरोपीय इतिहास-लेखन या विचारधारा के आधार पर साम्राज्यवादी अथवा औपनिवेशिक इतिहास लेखन भी कहा जाता है. हालांकि सभी यूरोपीय इतिहासकार साम्राज्यवादी विचारधारा के नहीं थे. फिर भी साम्राज्यवाद इस इतिहास-लेखन की मूल विचारधारा रही है. उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में आधुनिक इतिहास लेखन का आरम्भ हुआ. लियोपोल्ड वॉन रैंक, लार्ड एक्टन तथा उनके अनुयायी इसके प्रथम वाहक बने। भारत पर यूरोपीय इतिहास-लेखन का आरम्भ अट्ठारहवीं सदी के अंत में प्राच्यवादी (Orientalist) विद्वानों के लेखों द्वारा हुआ. उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन में उपस्थित उदारवादी (Liberalism) विचारधारा का ही विस्तार थी. आर्थिक जगत में यह विचारधारा एडम स्मिथ के मुक्त बाज़ार के सिद्धांत में अभिव्यक्त हुयी. परंतु इसका दार्शनिक आधार प्रसिद्ध विद्वान जेरेमीं बेंथम ने दिया. बेंथम के अनुयायी एवं मित्र उपयोगितावादी जेम्स मिल का मानना था कि भारतीय संस्कृति पतित है तथा भारत के उद्धार की एकमात्र आशा तर्क-बुद्धिवाद के आधार पर निर्मित कठोर कानूनों से ही संभव है. जहाँ प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशंसा की थी, वहीं उपयोगितावादियों ने उसकी तीखी आलोचना की. उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मिल के इतिहास की आलोचना होने लगी थी. यूरोपीय इतिहासकारों ने अब भारतीय इतिहास को भारतीय स्रोतों के आधार पर लिखने का बीड़ा उठाया, परंतु उनमें साम्राज्यवादी विचारधारा को स्पष्ट पहचाना जा सकता है. भारत का संपूर्ण इतिहास पाठ्यपुस्तक के रूप में लिखने की श्रृंखला का अगला अध्याय विंसेंट ए. स्मिथ की कृतियों के माध्यम से सामने आया. स्मिथ को आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के भारत का सबसे प्रभावशाली इतिहासकार माना जा सकता है. 1960 के दशक में जॉन गैलाघर एवं उनके छात्र अनिल सील के अध्ययनों नें कैम्ब्रिज स्कूल की आधारशिला रखी. गैलाघर के पर्यवेक्षण में अनिल सील द्वारा किया गया शोध अध्ययन इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म (1968) के नाम से प्रकाशित हुआ. अनिल सील द्वारा किया गया किया गया राष्ट्रीय आन्दोलन का यह विश्लेषण कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों के लिये दिशा निर्देशक सा बन गया. जॉन गैलाघर, अनिल सील एवं गार्डन जॉनसन द्वारा 1973 में संयुक्त रूप से संपादित लोकॅलिटी, प्रॉविंस एंड नेशन: एसेज़ आन इंडियन पॉलिटिक्स 1870-1940 नामक ग्रंथ ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संबन्ध में कुछेक एकदम नयी अवधारणाओं को जन्म दिया. 1980 तक कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का अंत हो चुका था, परंतु इसकी कुछ अवधारणाओं को लगभग इसी समय सबअल्टर्न के नाम से आरम्भ हुए एक नये इतिहास-लेखन ने आत्मसात कर लिया. हांलाकि, सबअल्टर्न अध्ययन एकदम भिन्न प्रकार का इतिहास-लेखन था तथा इसका कैम्ब्रिज इतिहास-लेखन से कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नही था. कालांतर में क्षेत्रीय स्रोंतों को प्रकाश में लाने का कार्य कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों ने भी बड़े पैमाने पर किया. कालांतर में राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी इतिहासकारों ने यूरोपीय इतिहास-लेखन की अनेक मान्यताओं को चुनौती दी. फिर भी यूरोपीय इतिहास-लेखन के भारतीय इतिहास-लेखन पर पड़े दुष्परिणामों को कम करके नहीं आंका जा सकता. यूरोपीय इतिहासकारों की अनेक

स्थापनाओं ने भारतीयों के मस्तिष्क पर दूरगामी परिणाम छोड़ा. प्राच्यवादियों की स्थापनाओं ने भारतीयों कों अपने विलुप्त अतीत के प्रति केवल जागरुक ही नहीं किया अपितु उनमें प्राचीन भारत की उपलब्धियों के लिये गौरव की एक भावना भी भर दी.

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

1- अभिलेखागारों - दस्तावेजों को सुरक्षित रखने का स्थान

2- प्राच्यवादी (Orientalist)- पूर्वी देशों के झान में रूचि रखने वाले विद्वान

3- पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास- भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना से पूर्व का इतिहास

4- मार्क्सवादी इतिहासकार – वे इतिहासकार जो मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर इतिहास की व्याख्या करते हैं।

2.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 2. 3 के उत्तर

प्रश्न 1 – सत्य

प्रश्न 2- असत्य

प्रश्न 3 – सत्य

प्रश्न 4- असत्य

प्रश्न 5- असत्य

प्रश्न 6- सत्य

खण्ड 2. 4 के उत्तर

प्रश्न 1 – जेम्स मिल

प्रश्न 2- तथाकथित मुस्लिम शासनकाल

प्रश्न 3 – मराठा इतिहास

प्रश्न 4- राजपूत इतिहास

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1- ई. श्रीधरन, इतिहास–लेख: एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2011

2- बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1998

3- सुमित सरकार, आधुनिक भारत: 1885-1947, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002

4- द्विजेन्द्रनारायण झा, प्राचीन भारत: सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1- सब्यासाची भट्टाचार्य, "कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफ़ी" सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज़ एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-19 में, नई दिल्ली: इंदिरा गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

2- रजत रे, "दी कैम्ब्रिज स्कूल" सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज़ एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-23 में, नई दिल्ली: इंदिरा गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

3- गारलैण्ड कन्नॉन, दी लाइफ़ एंड माइंड ऑफ ओरियण्टल विलियम जोंस: सर विलियम जोंस, दी फ़ॉदर ऑफ माडर्न लिंगविस्टिक्स, न्यूयार्क: कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1990

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

1- उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से आरम्भिक बीसवीं शताब्दी तक के साम्राज्यावादी इतिहास-लेखन पर चर्चा कीजिए।

2- यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण एवं प्रभावों पर चर्चा कीजिए।

ईकाई – 3

स्वातंत्रय-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन – आर. सी. दत्त एवं दादाभाई नौरोजी

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

3.4 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

3.4.1 दादाभाई नौरोजी एवं आर्थिक दोहन का सिद्धांत

3.4.2 आर. सी. दत्त एवं आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

3.5 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का विश्लेषण

3.6 सारांश

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

3.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुआ. आधुनिक अंग्रेज़ी शिक्षा और यूरोपीय इतिहास-लेखन ने भारतीयों में इतिहास के प्रति एक चेतना पैदा कर थी. अत: अतीत के प्रति जागरुक भारतीयों ने मूल तथ्यों एवं प्राथमिक स्रोतों को आधार बनाकर आधुनिक इतिहास-लेखन का आरम्भ किया. यूरोपीय साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन नें भारत के अतीत का जो चित्रण किया था, वह भारतीयों के अनुसार उचित नही था. यूरोपीय इतिहास-लेखन के साम्राज्यवादी तर्कों को काटनें के लिये भारतीयों नें स्वयं भारतीय इतिहास के पुनर्विश्लेषण का बीड़ा उठाया. अत: राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का आरम्भ साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की प्रतिक्रिया के रूप में शुरु हुआ. इसीलिये इसे वैचारिक आधार पर साम्राज्यवाद-विरोधी अथवा उपनिवेशवाद-विरोधी इतिहास-लेखन भी कहा जा सकता है. स्वाभाविक रूप से, इस इतिहास-लेखन में एक ओर भारतीय अतीत की भूरी-भूरी प्रशंसा की गई थी, तो दूसरी

ओर साम्राज्यवाद के आर्थिक पहलुओं का पहली बार विश्लेषण किया गया. इसप्रकार, राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की कई धारायें निकलीं. आगे हम राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की तीन मुख्य प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे.

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम राष्ट्रवादी इतिहास लेखन तथा इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास करेंगे. राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधारा से प्रभावित था, अत: इसका एक लक्ष्य राष्ट्रवादी चेतना का प्रसार रहा है. परंतु राष्ट्र की समझ को लेकर विद्वानों के मध्य अलग-अलग राय होने के कारण इस इतिहास लेखन मे हम विभिन्न धाराएँ पाते हैं. एक ओर उन इतिहासकारों की परम्परा है जिन्होंने भारतीय सांस्कृतिक उत्कृष्टता पर जोर दिया, दूसरी ओर वे लेखक जिन्होंने राष्ट्रवादी प्रचार के लिये औपनिवेशिक अर्थतंत्र को चुनौती दी. इन दूसरे लेखनों का प्रभाव भारतीय इतिहास लेखन में दूरगामी रहा है, अत: इन पर हम विशेष गौर करेंगे.

3.3 राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन नें यह साबित करने का यत्न किया था कि भारतीय अतीत में अधिकतर या तो राजनीतिक एवं प्रशासनिक अराजकता रही या एक प्राच्य-निरंकुशता. कुल मिलाकर साम्राज्यवादी इतिहासकारों नें यह दिखाने का प्रयास किया था कि भारतीय स्वशासन के अनुकूल नहीं हैं. राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने साम्राज्यवादी इतिहास को चुनौती देते हुए भारतीय इतिहास से विपरीत प्रमाण देना आरम्भ किया. के. पी. जायसवाल ने अपने ग्रंथ हिन्दू पॉलिटी (1915) में प्राचीन भारत में गणतन्त्रों की उपस्थिति के प्रमाण दिये. परंतु, प्राचीन भारत में संसदीय प्रजातंत्र के सारे लक्षणों को साबित करने के प्रयास में उन्होंने प्राचीन शब्दों की नवीन एवं एकदम निजी व्याख्या की. प्राचीन भारत में सुसंगठित शासन की व्यवस्था को पुष्ट करने में कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र की खोज सबसे महत्वपूर्ण थी. मैसूर स्थित ओरियण्टल रिसर्च इंसटीट्यूट में कार्यरत आर. शामशास्त्री ने इसे खोज निकाला और 1909 में संस्कृत में प्रकाशित किया. 1915 में उन्होंने इसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी छाप दिया. राष्ट्रवादी इतिहासकारों नें भारतीय अतीत को यूरोप से समृद्ध दिखाने के प्रयास में अतिरेकपूर्ण ढंग से कौटिल्य की तुलना मैकयावली और बिस्मार्क से की. मौर्यकालीन मंत्रि-परिषद को ब्रिटेन की प्रिवी-कॉउसिल के समतुल्य बताया गया. साम्राज्यवादी इतिहासकारों नें तर्क दिये थे कि भारत ब्रिटिश शासन से पूर्व कभी भी एक राष्ट्र नहीं था. साथ ही उन्होंने भारतीय संस्कृति को निकृष्ट बताया था. राष्ट्रवादी लेखक अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के बचाव के लिये दौड़ पड़े. उन्होंने साहित्यिक स्रोतों की पुनर्व्याख्या करके यह दिखाने की चेष्टा की कि प्राचीन भारतीय संस्कृति एक महान संस्कृति थी. इस अन्धी दौड़ में अक्सर तथ्यों की सत्यता को भी नज़रअन्दाज़ कर दिया गया. इसप्रकार सांस्कृतिक राष्ट्रव्वदी इतिहास लेखन की परम्परा आरम्भ हुई. भारत को एक राष्ट्र के रूप में चित्रित करनें के प्रयास में शक, कुषाण तथा हूणों के आक्रमणों को विदेशी आक्रमणों की भाँति पेश किया जाने लगा. के. पी. जायसवाल ने अपनें ग्रंथ हिस्ट्री आफ इंडिया में नागों को शक-कुषाण शासकों से मुक्तिदाता के रूप में पेश किया, हलांकि इसके लिये पर्याप्त साक्ष्य नहीं थे. सबसे खतरनाक था तुर्कों एवं मुग़ल शासकों को विदेशी आक्रांता बताना.

क्योंकि इसके विरोध में मुस्लिम इतिहासकारों नें तुर्क और मुग़ल शासकों की झूठी प्रशंसा आरम्भ कर दी. इस प्रक्रम में जदुनाथ सरकार द्वारा रचित हिस्ट्री ऑफ औरंगज़ेब सबसे प्रतिक्रियावादी साबित हुई. दी फॉल आफ मुग़ल इम्पायर में सरकार नें मुग़लों के पतन को औरंगज़ेब की धार्मिक नीति से जोड़ा. कुछ मुस्लिम इतिहासकारों नें औरंगज़ेब की तथाकथित कट्टर धार्मिक नीति को राजनीतिक आधार पर सही ठहराने की चेष्टा की. इसप्रकार साम्प्रादायिक इतिहास-लेखन के बीज पड़ना आरम्भ हो गये.

अनेक राष्ट्रवादी इतिहासकारों के लेखनों में मध्यकाल और मुस्लिमों के प्रति वैमनस्य की भावना झलकती थी, जो कहीं से भी ऐतिहासिक नही थी. साम्राज्यवाद-विरोधी होते हुए भी ये इतिहासकार वस्तुत: साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की विभाजनकारी विचारधारा से प्रभावित हो गये थे. उन्होंने साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन के तर्कों को तो काटा परंतु इसमें छिपी वर्चस्ववादी ऐतिहासिक दृष्टि को नहीं पहचान सके. राष्ट्रवाद का गॉधीवादी युग आते-आते इस प्रवृत्ति के इतिहास-लेखन की आलोचना होंने लगी. महात्मा गॉधी ने स्वयं भी विभाजनकारी साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन को एक ख़तरे की भॉति देखा और भारत का सही इतिहास लिखने की प्रेरणा दी. गॉधीवादी राष्ट्रवाद से प्रभावित भारतीय इतिहासकारों ने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की नींव डाली. मुहम्मद हबीब नें अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ महमूद ऑफ ग़ज़नी में महमूद ग़ज़नी को इस्लाम धर्मप्रचारक की भॉति नहीं देखा. वरन, उन्होंने सिद्ध किया कि महमूद के आक्रमण धर्मयुद्ध के आह्वान नहीं, बल्कि गौरव प्राप्ति की आकांक्षा तथा सोने की लालच में किये गये लूट के प्रयास थे. मध्यकालीन इतिहास को ग़ैर-साम्प्रादायिक ढंग से पुनर्विश्लेषित करने के प्रयास में ताराचन्द का इतिहास-लेखन सर्वोपरि था. अपनी पुस्तक इंफ्लुएंस आफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर में उन्होंने मध्यकालीन इतिहास में हिन्दू-मुस्लिम समन्यवय को मुख्य विषय बनाया. के. एम. अशरफ ने अपने ग्रंथ लाइफ एंड कंडीशन आफ दी पीपुल आफ हिन्दुस्तान 1200-1500 (1935) में तुर्क शासकों की तीखी आलोचना की. उन्होंने तर्क दिया कि इस काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य कोई सांस्कृतिक संघर्ष नहीं था. साथ ही, अशरफ ने दिखाया कि सल्तनतकाल में इसलाम के आने से आम लोगों की दशा में भी कोई सुधार नहीं हुआ था. के. एम. अशरफ संभवत: पहले इतिहासकार थे जिन्होंने निम्न सामाजिक वर्गों को इतिहास का पात्र बनाया. ग़ैर-साम्प्रदायिक एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी इतिहास लिखने की दिशा में एक सफ़ल प्रयोग जवाहरलाल नेहरु नें किया. उनकी विश्व प्रसिद्ध रचना दी डिसकवरी ऑफ इंडिया 1946 में प्रकाशित हुई. इस ग्रंथ में दूसरे राष्ट्रवादियों के तरह ही प्राचीन भारत की तमाम उपलब्धियों की चर्चा थी, फिर भी, अतिवादी दृष्टिकोण का अभाव था. नेहरु नें भारतीय दर्शन और गणित की प्रशंसा की थी परंतु व्यक्तिवादी दर्शन की निन्दा भी की. मध्यकालीन इतिहास की सबसे महान विषेशता के रूप में नेहरु ने मिली-जुली संस्कृति के विकास की सराहना की. भारत के राष्ट्रनायकों के रूप में नेहरु ने अशोक और अकबर की प्रशंसा की. दोनों ने ही अपनें-अपनें काल मे धार्मिक सहिष्णुता के लिये कार्य किया था. फिर भी यह इतिहास उन त्रुटियों से मुक्त नहीं था, जो समकालीन इतिहास मे मौजूद थीं. स्पष्ट है नेहरु नें उपलब्ध ग्रंथों का ही सहारा लिया था. फिर भी, राष्ट्रनायकों का गौरव शिवाजी एवं महाराणा प्रताप के स्थान पर अशोक और अकबर को देना अपने आप में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की उस त्रुटि को दुरुस्त करना था जिसनें साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया था. डिसकवरी में सबसे महत्वपूर्ण था आधुनिक भारत का इतिहास लिखना. आज़ादी से पूर्व बड़े पैमाने पर आधुनिक भारत का इतिहास राष्ट्रवादी दृष्टि से नहीं लिखा गया था. नेहरु ने

राष्ट्रवाद एवं साम्राज्यवाद का आर्थिक विश्लेषण भी इसमें किया था. हलांकि यह पहला विश्लेषण नहीं था और उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में राष्ट्रवादियों द्वारा किया गया सबसे उल्लेखनीय कार्य था.

3.4 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की ऊपर वर्णित दो प्रवृत्तियों के अलावा तीसरी प्रवृत्ति आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की थी. स्वतंत्रता-पूर्व आधुनिक भारत के इतिहास-लेखन की यही सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति भी थी. हलांकि साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की समालोचना करने वाले राष्ट्रवादी इतिहासकार न होकर राजनीतिक नेता एवं अर्थशास्त्री थे. इस परम्परा मे दो नाम सर्वोपरि हैं – दादाभाई नौरोजी एवं आर. सी. दत्त – जिन्होंने साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की गहन पड़ताल की थी. इनके अतिरिक्त महादेव गोविन्द रानाडे, दिनशा वाचा एवं जी. एस. अय्यर आदि ने भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक प्रभावों के शोषणकारी पहलुओं को उजागर किया था. आगे हम नौरोजी एवं दत्त के लेखनों की विस्तार से चर्चा करेंगे. हम देखेंगे कि ये कुछेक पहले राष्ट्रवादी थे जिन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की पोल खोली. बाद के राष्ट्रवादी प्रचार में इन अध्ययनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का आरम्भ साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की प्रतिक्रिया के रूप में शुरु हुआ
2. जदुनाथ सरकार ने हिन्दू पॉलिटी (1915) में प्राचीन भारत में गणतन्त्रों की उपस्थिति के प्रमाण दिये.
3. कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र की खोज आर. शामशास्त्री ने 1909 में की .
4. के. पी. जायसवाल द्वारा रचित हिस्ट्री ऑफ औरंगज़ेब सबसे प्रतिक्रियावादी साबित हुई.
5. जवाहरलाल नेहरु की विश्व प्रसिद्ध रचना दी डिसकवरी ऑफ इंडिया 1946 में प्रकाशित हुई.

3.4.1 दादाभाई नौरोजी एवं आर्थिक दोहन का सिद्धांत

दादाभाई नौरोजी को भारतीय इतिहास में ग्रैंड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया के नाम से जाना जाता है. वे भारतीय राष्ट्रवाद के उन पुरोधाओं में से थे जिन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की थी. 1886 में वे कांग्रेस के अध्यक्ष भी चुने गये. इससे पूर्व ही 1867 में कांग्रेस के पूर्वगामी संगठन के रूप में उन्होंने लन्दन में ईस्ट इंडिया एसोसिएशंन की स्थापना की थी. एसोसिएशंन के माध्यम से उन्होंने लन्दन में भारतीयों के पक्ष मे समर्थन जुटाने का प्रयास किया था. दादाभाई नौरोजी पारसी समाज सुधार के कार्यों से भी जुड़े थे. इसके लिये 1851 में उन्होंने रहनुमाई मजदायसन सभा की स्थापना की थी और रफ्त गोफ्तार नामक पत्र निकाला था. उदारवादी विचारधारा से प्रभावित नौरोजी ने 1892 में लिबरल पार्टी के टिकट पर ब्रिटिश पॉर्लियामेण्ट का चुनाव लड़ा एवं एम.पी. (मेम्बर ओफ पॉर्लियामेण्ट) बन गये. 1906 मे दादाभाई नौरोजी ने पुन: कांग्रेस की कमान उस वक़्त संभाली जब कांग्रेस के भीतर नरमपंथी और गरमपंथी गुट संभावित

टकराव की ओर बढ़ रहे थे. नौरोजी का व्यक्तित्व इस वैचारिक टकराव को एक वर्ष तक टालने मे सफल रहा. फिर भी, दादाभाई नौरोजी की राजनीतिक गतिविधियों की सबसे बड़ी उपलब्धि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का आर्थिक विश्लेषण था.

दादाभाई नौरोजी को हम उनके सर्वविदित लेखन दी पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया (1876) से पहचानते हैं. इस ग्रंथ मे उन्होंने न केवल भारतीय गरीबी की चर्चा की बल्कि इसके लिये अंग्रेज़ो की आर्थिक नीतियों को भी जिम्मेदार ठहराया. ब्रिटिश आर्थिक नीतियों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का यह किसी भारतीय का पहला प्रयास था. इससे पूर्व ही 1870 में दादाभाई नौरोजी नें लन्दन में सोसाईटी ऑफ ऑर्ट्स की एक सभा में दी वांट्स एंड मीन्स ऑफ इंडिया शीर्षक से एक पत्र पड़ा. इसमें उन्होंने बताया था कि वर्तमान भारत अपनी आवश्यता के अनुपात मे उत्पादन करने में सक्षम नही है. फिर 1873 में दादाभाई नौरोजी ने भारतीय वित्त की एक कमेटी को भारतीय गरीबी के कारणों पर कुछ तर्क दिये. कमेटी ने इन तर्कों को स्वीकार तो कर लिया परंतु प्रकाशित नही किया. नौरोजी के यही लेख अंतत: पावर्टी में प्रकाशित हुए. नौरोजी ने आरम्भ से ही भारतीय गरीबी को अपने लेखों का मुख्य विषय बनाया. पावर्टी मे ब्रिटिश शासन की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय जनता को अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने भर भी नही मिल रहा है. नौरोजी ने उदार अंग्रेज़ों को चेताया कि गरीबी के समाधान पर ही ब्रिटेन के भारत पर असली उपकार को तय होना है. इसप्रकार उन्होने ब्रिटिश शासन की इस अवधारणा पर – कि ब्रिटेन का भारत में शासन एक कल्याणकारी राज है – सवालिया निशान लगा दिया. ब्रिटिश शासन को लेकर आरम्भ में तो नौरोजी का यह विचार था कि अंग्रेज़ों को भारत की वास्तविक दशा का ज्ञान नही है, और यदि उन्हें इस बारे में बताया जाये तो औपनिवेशिक शासन की नीतियाँ बदलेंगी. परंतु जैसे-जैसे उनकी ये आशाएँ कमज़ोर होती गयीं ब्रिटिश शासन की उनकी आलोचना भी तीखी होती चली गयी. 1895 में दादाभाई नौरोजी कहा कि भारत भूख से मर रहा है. वहीं 1900 तक वे भारतीयों की तुलना अमेरिकी गुलाम से करते हुए अमेरिकी गुलाम की दशा को एक भारतीय से बेहतर बता रहे थे. दादाभाई नौरोजी ने भारत की गरीबी को उत्पादन की कमी से जोड़ा जबकि इसी समय अंग्रेज़ लेखक इसे विशाल जनसंख्या से जोड़ रहे थे. लार्ड कर्जन ने 1888 में एक सरकारी सभा में भारतीय गरीबी के लिये सघन जनसंख्या और जनसंख्या की तेज़ वृद्धि दर को दोषी ठहराया. जनसंख्या की वृद्धि एवं गरीबी का यह सम्बन्ध मालथस के अध्ययन पर आधारित था. दादाभाई नौरोजी ने इसके विपरीत तर्क दिया कि अधिकतर पश्चिमी यूरोपीय देश भारत से कही सघन बसे हैं फिर भी उन्होंने आर्थिक समृद्धि प्राप्त की है. जनसंख्या की वृद्धि एवं गरीबी के अंतर्सम्बन्द्ध को भी नौरोजी ने नकार दिया. उन्होंने तर्क दिया कि इंग्लैण्ड सहित पश्चिमी यूरोप के देशों की जनसंख्या भारत के मुकाबले कहीं तेजी से बढ़ी है तथापि उनकी भौतिक समृद्धि में वृद्धि हुई है. निष्कर्षत: नौरोजी ने न्यून उत्पादन को भारत की गरीबी का मुख्य कारण माना. इसप्रकार दादाभाई नौरोजी के विचार से तेज़ पूँजीवादी उत्पादन एवं औद्योगीकरण ही भारत की गरीबी दूर करने का एकमात्र समाधान हो सकता था. नौरोजी और उनके काल के दूसरे आर्थिक राष्ट्रवादियों ने गरीबी को उत्पादन के अनुचित बंटवारे से जोड़कर नहीं देखा. अत: गरीबी के एक महत्वपूर्ण कारण के रूप में वर्गीय शोषण की प्रवृत्ति को वे नहीं पहचान सके. फिर भी औपनिवेशिक शोषण को पहचान कर राष्ट्रवाद के उदभव एवं विकास में उन्होने अमूल्य योगदान दिया. इसमे सबसे महत्वपूर्ण था सम्पत्ति के दोहन का सिद्धांत.

सम्पत्ति के दोहन का सिद्धांत संभवत: दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विश्लेषणों की सबसे बड़ी उपलब्धि थी. भारत की गरीबी के सबसे महत्वपूर्ण कारण के रूप में उन्होंने भारतीय सम्पत्ति के इंग्लैण्ड पलायन को दोषी माना. सम्पत्ति के दोहन का अर्थ था भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति अथवा सलाना उत्पादन का इंग्लैण्ड को निर्यात, जिसके बदले में भारत को कोई भी भौतिक लाभ नहीं मिल रहा था. दादाभाई नौरोजी ने 1867 से ही इस सवाल को उठाना आरम्भ कर दिया था जब उन्होंने लन्दन में स्थापित ईस्ट इंडिया एसोसिएशन की एक सभा में अपना पत्र 'इंग्लैण्ड्स डेब्ट टू इंडिया' पड़ा था. इस पत्र में नौरोजी ने कहा कि भारतीय राजस्व का लगभग एक-चौथाई हिस्सा उस देश से इंग्लैण्ड को स्थानांतरित हो जाता है. उन्होंने अंग्रेज़ों को सलाह दी कि भारत में उत्पादन को बढ़ाना चाहिये ताकि वह देश ब्रिटिश शासन और दोहन के भार को सह सके तथा गरीब न हो. 1876 में पावर्टी के लेखन तक दादाभाई नौरोजी ने 'दोहन सिद्धांत' को पूर्ण विकसित कर लिया था. अब नौरोजी ने दोहन सिद्धांत के प्रचार मे भी कोई कसर नही छोड़ी. अखबारों, भाषणों, अधिकारियों से पत्र-व्यवहार, विभिन्न कमीशनों एवं कमेटियों के समक्ष तथ्य प्रस्तुत करना आदि सभी नरमपंथी तरीकों को दादाभाई नौरोजी ने दोहन सिद्धांत के प्रचार का माध्यम बनाया. उन्होंने इसे भारत मे ब्रिटिश शासन का मूलभूत पाप बताया. साधारण: राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों ने आयात-निर्यात के अंतर को सम्पत्ति के दोहन के रूप में देखा था. दादाभाई नौरोजी ने तर्क दिया कि भारतीय निर्यात की कीमत निर्यात बन्दरगाह पर तय की जा रही है, जिससे निर्यात का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है और भारत को निर्यात का लाभ नही मिल रहा है. आर्थिक राष्ट्रवादियों के अनुसार दोहन में अंग्रेज़ प्रशासकों (नागरिक एवं सैनिक) के वेतन, अंग्रेज़ डॉक्टरों, वकीलों एवं दूसरे कर्मचारियों की आय एवं लाभ, इंग्लैण्ड में रह रहे अंग्रेज़ अधिकारियों की पेंशन एवं भत्ते आदि को शामिल किया जा सकता था. दादाभाई नौरोजी ने भी अक्सर भारतीय प्रशासन में आवश्यकता से अधिक अंग्रेज़ों के रोज़गार मे होने को दोहन का मुख्य बिन्दू बताया. इसके अतिरिक्त दादाभाई नौरोजी ने घरेलू खर्चों (होम चार्जेज़) को भी दोहन का एक माध्यम बताया. भारत सरकार के वे खर्चे जो इंग्लैण्ड में भारत सचिव के द्वारा किये जाते थे होम चार्जेज़ कहलाते थे. इसमें भारतीय ऋण पर ब्याज, रेलवे के विकास मे लगाये जा रहे धन पर गारंटीशुदा लाभ, भारत भेजी जाने वाली सैन्य सामग्री की कीमत, इंग्लैण्ड मे देय दूसरे नागरिक एवं सैनिक खर्चे, लन्दन स्थित इंडिया ऑफिस के खर्चे तथा भारत सरकार के यूरोपीय अधिकारियों की पेंशन एवं भत्ते आदि सम्मिलित थे.दूसरे राष्ट्रवादियों ने निजी विदेशी पूँजी निवेश पर लाभ को भी दोहन से जोड़ा. ये पूँजी सबसे अधिक रेलवे के विकास में लग रही थी, जिसमें निवेश पर लाभ की गारंटी भारत सरकार ने दे रखी थी. संक्षेप में कहा जाये तो दादाभाई नौरोजी के विश्लेषण एवं प्रचार ने भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक चरण में आर्थिक दोहन को राष्ट्रवादी प्रचार का मुख्य हथियार बना दिया था. शीघ्र ही दूसरे राष्ट्रवादियों ने भी इसे मुद्दा बनाया. महादेव गोविन्द रानाडे ने 1872 मे पूना की एक सभा मे भाषण देते हुए भारतीय पूँजी एवं संसाधनों के दोहन की घोर निन्दा की तथा तर्क दिया कि भारत की राष्ट्रीय आय का एक-तिहाई से अधिक ब्रिटिश द्वारा ले जाया जा रहा है. 1873 में भोलानाथ चन्द्र ने कहा कि पहले तो कम्पनी भारतीय राजस्व का केवल एक हिस्सा ही ले जा रही थी, परंतु अब हज़ारों तरीकों से भारतीय धन लूटा जा रहा है.

3.4.2 आर. सी. दत्त एवं आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

दादाभाई नौरोजी के अतिरिक्त दूसरे महत्वपूर्ण आर्थिक राष्ट्रवादी रोमेश चन्द्र दत्त थे, जिन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का अलोचनात्मक अध्ययन किया था. भारतीय सिविल सेवा के अधिकारी दत्त संस्कृत के भी विद्वान थे. उन्होंने संस्कृत के साहित्यिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया एवं तीन खण्डों में ए हिस्ट्री ऑफ सिविलाइज़ेशन इन एंशिएंट इंडिया नामक पुस्तक लिखी. इस ग्रंथ में दत्त ने प्राचीन सामाजिक संस्थाओं को समझने का प्रयास किया था तथा वैदिक जीवन के सांसारिक पक्ष पर प्रकाश डाला था. इसप्रकार वैज्ञानिक ढंग से एवं उपलब्ध स्रोत सामग्री का प्रयोग कर इतिहास लिखने का यह आर. सी. दत्त का पहला प्रयास था. परंतु दो खण्डों में प्रकाशित इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया आर. सी. दत्त का सबसे उत्कृष्ट लेखन कार्य साबित हुआ. इसकी स्रोत सामग्री मुख्यत: सरकारी रिपोर्ट एवं संसदीय पत्र थे. इसप्रकार दत्त ने अपना लेखन मूलत: अंग्रेज़ अधिकारियों के लेखों एवं सरकारी आंकड़ों के आधार पर ही किया था. फिर भी, ब्रिटिशकाल की अर्थव्यवस्था लिखने का यह पहला सफल प्रयास था. इससे पहले न तो किसी ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का इतिहास लिखा था, और न ही भारतीय गरीबी के ऐतिहासिक कारण जानने का प्रयास किया गया था. 1901-02 के मध्य लिखी गई इस पुस्तक में औपनिवेशिक भारत की अर्थव्यवस्था के लगभग सभी पक्षों – कृषि, उद्योग, वाणिज्य – को छूने का प्रयास किया गया था. फिर भी दत्त के अध्ययन का मुख्य केन्द्र ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियाँ थीं. उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में लगातार पड़ने वाले भीषण अकालों ने गरीबी, भुखमरी और उत्पादन के सवाल को अहम बना दिया था. अकालों के अध्ययन के लिये बनाए गये कमीशनों ने अकालों के लिये सूखे को जिम्मेदार ठहराया. इसप्रकार ब्रिटिश प्रशासन कृषि उत्पादन एवं अकालों को भारतीय मानसून पर निर्भर मानता था. दत्त ने अपने अध्ययन के जरिये दिखाया कि अकालों के लिये ब्रिटिश नीतियाँ ही अधिक जिम्मेदार हैं. 1900 में लार्ड कर्ज़न को लिखे अपने पत्रों में दत्त ने ब्रिटिश सरकार की भू-राजस्व नीतियों को अकाल का मुख्य कारण बताया. बाद में इकॉनामिक हिस्ट्री में दत्त ने अधिक विस्तार से औपनिवेशिक भू-राजस्व नीतियों का अध्ययन किया. पहले से ही राष्ट्रवादी नेताओं ने राजस्व के निर्धारण एवं उच्च दर को भारतीय कृषि की खराब दशा के लिये जिम्मेदार बताया था. दत्त ने भी माना कि भू-राजस्व नीतियों, जिसमें भूराजस्व की उच्च दरें शामिल हैं, के ही कारण कृषि दशा की दुर्गति हुई है, साथ ही यही भारतीय गरीबी का मुख्य कारण है. उच्च दर के कारण किसान लगातार अनाजों के स्थान पर गैर-खाद्य नगदी फसलें बोने के लिये बाध्य हो रहे थे. दत्त ने तर्क दिया कि चूंकि भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग कृषि पर निर्भर है अत: कृषि की दशा मे लगातार गिरावट से साल दर साल अनाज की कमी होती गयी है. उन्होंने अनाज के उत्पादन मे गिरावट को अकालों का मुख्य कारण भी बताया. इसप्रकार आर. सी. दत्त ने मानसून के स्थान पर ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों को लगातार पड़ रहे अकालों के लिये जिम्मेदार ठहराया. अंग्रेज़ प्रशासकों की आलोचना करते हुए दत्त ने कहा कि जब तक भीषण गरीबी के वास्तविक कारणों को सामने नही लाया जाता तब तक सुधारकारी उपायों का सुझाव नहीं दिया जा सकता तथा आर्थिक प्रगति की बाधाओं को भी दूर नही किया जा सकता है. औपनिवेशिक भू-राजस्व नीतियों के अलावा आर. सी. दत्त ने भारतीय हस्तशिल्प उद्योग के पतन को भी ब्रिटिश नीतियों का दुष्परिणाम बताया. उन्होंने पतन की

ऐतिहासिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए बताया कि सदियों से भारत के औद्योगिक उत्पादन (हस्तशिल्प उत्पादन) का एशिया और यूरोप मे बड़ा बाजार था और ये उत्पादन अनेक देशों को भेजे जाते थे. यही नही बल्कि कताई, बुनाई एवं दूसरे हस्तशिल्पों में हज़ारों भारतीयों को रोज़गार भी मिलता था. दत्त ने दावा किया कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात भारत ने धीरे-धीरे न केवल विदेशी बाजार खो दिये बल्कि देश के आंतरिक बाजार भी उसके हाँथ से निकल गये. उन्होंने यह भी उल्लेख किया कि वर्तमान भारत एक बड़े स्तर पर अब विदेशी उत्पादों का आयात कर रहा है. आर. सी. दत्त ने इस प्रक्रिया की आलोचना करते हुए इसे 'ब्रिटिश भारत के इतिहास का सबसे दु:खद अध्याय' बताया क्योंकि इससे भारत की समृद्धि मे कमी ही नही आई बल्कि अनेक लोगों के जीवन का साधन ही नष्ट हो गया. राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों ने यह भी तर्क दिया कि इस प्रक्रिया ने अतत: कृषि पर जनसंख्या के बोझ को बढ़ा दिया क्योंकि हस्तशिल्प के विनाश से बेरोज़गार लोगों के पास और कोई चारा नही था. आर. सी. दत्त ने दावा किया कि भारत मे ब्रिटेन ने भारतीय परम्परागत उद्योग के पतन की कीमत पर ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादन को बढावा दिया है, और ऐसा ब्रिटिश व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के दबाव मे किया जा रहा है. आर. सी. दत्त ने बताया कि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश उद्योगों का गुलाम बनाने के लिये भारत को कच्चा माल का उत्पादक एवं ब्रिटिश उद्योग के बाजार की भाँति विकसित किया जा रहा है. इसप्रकार दत्त ने परम्परागत भारतीय हस्तशिल्प के पतन को ब्रिटिश आर्थिक नीतियों से जोड़कर देखा. कालांतर मे यह भारतीय राष्टवादियों एवं अंग्रेज़ों के मध्य बहस का एक प्रमुख मुद्दा बन गया. यही नही बल्कि स्वतंत्रता के पश्चात औपनिवेशिक विचारधारा के इतिहासकारों एवं भारतीय (मुख्यत: मार्क्सवादी) इतिहासकारों के मध्य आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में भारतीय उद्योगों का विनाश ही सबसे बहस का विषय रहा है

3.5 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का विश्लेषण

आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आरम्भिक राष्ट्रवादियों की सबसे बड़ी उपलब्धि थी. इन लेखकों ने औपनिवेशिक शासन की गहन पड़ताल की तथा ब्रिटिश राज की 'कल्याणकारी राज' की अवधारणा को गहरा धक्का लगाया. इसप्रकार उन्होंने उभरते भारतीय राष्ट्रवाद को तर्क एवं आधार दिया. राष्ट्रवादी नेताओं ने इन आर्थिक विश्लेषणों को राष्ट्रवादी प्रचार का मुख्य हथियार बनाया. न केवल आरम्भिक राष्ट्रवादियों बल्कि महात्मा गाँधी ने भी भारतीय हस्तशिल्प के पतन एवं सम्पत्ति के दोहन को भारत मे राष्ट्रवाद के प्रचार का मुख्य माध्यम बनाया. यदि ये अध्ययन न होते तो संभवत: 'स्वदेशी एवं बहिष्कार' की रणनीति का जन्म ही न होता. महात्मा गाँधी ने विदेशी कपड़ों के बहिष्कार को महत्वपूर्ण मुद्दा बनाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को एक जनआन्दोलन मे तबदील कर दिया. फिर भी, हमें यह स्वीकार करना होगा कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के ये आरम्भिक अध्ययन काफी कमजोर थे. दादाभाई नौरोजी ने अक्सर विश्लेषण के स्थान पर राजनीतिक बयानबाज़ी का सहारा लिया था. वहीं आर. सी. दत्त के तर्क आकड़ों पर आधारित होने के बावजूद काफी कमजोर थे. फिर भी इन आरम्भिक आर्थिक अध्ययनों के महत्व को कम करके नही आंका जा सकता क्योंकि इन्होंने भारत में आर्थिक

इतिहास लेखन की एक परम्परा डाली. कालांतर मे भारतीय इतिहासकारों – जिसमें मुख्यत: मार्क्सवादी इतिहासकार थे – ने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के विभन्न पहलुओं पर उत्कृष्ट इतिहास-लेखन किया है.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. दादाभाई नौरोजी को भारतीय इतिहास में ..... ऑफ इंडिया के नाम से जाना जाता है.
2. दादाभाई नौरोजी को हम उनके सर्वविदित लेखन ..... से पहचानते हैं.
3. दादाभाई नौरोजी ..... समाज सुधार के कार्यों से भी जुड़े थे
4. रोमेश चन्द्र दत्त ने तीन खण्डों में ..... नामक पुस्तक लिखी.
5. 1900 में लार्ड कर्ज़न को लिखे अपने पत्रों में दत्त ने ब्रिटिश सरकार की ..... को अकाल का मुख्य कारण बताया

3.6 सारांश

उपर हमने स्वतंत्रता-पूर्व राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों की चर्चा की है. हमने देखा कि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का उदय औपनिवेशिक इतिहास लेखन की गलत धारणाओं को ख़ारिज करने के लिये हुआ. इसका मुख्य लक्ष्य भारत में राष्ट्रवादी प्रचार भी था. राष्ट्रवादी इतिहास लेखकों के एक वर्ग ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता पर जोर दिया. इनके लेखन को हम सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की श्रेणी में रख सकते हैं. इस परम्परा के स्पष्ट खतरे सामने आए क्योंकि इसने कालांतर मे साम्प्रदायिक इतिहास लेखन को सामग्री उपलब्ध कराई. गाँधीवादी राष्ट्रवाद के उदय के साथ ही राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की उदार परम्परा का आरम्भ हुआ. इस परम्परा ने राष्ट्रीय एकता को इतिहास लेखन के मुख्य उद्देश्य के रूप में देखा. तीसरी परम्परा आर्थिक इतिहास लेखन के रूप में आरम्भ हुई. इस परम्परा के लेखकों ने बिटिश औपनिवेशिक शोषण को अपने लेखनों का मुख्य बिन्दु बनाया तथा ब्रिटिश राज की भारत मे उपस्थिति के ब्रिटिश उद्देश्यों पर सवालिया निशान लगाए. इन तीनों ही परम्पराओं ने भारत मे राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की नीव रखी.

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

अतिरेकपूर्ण – बढ़ाचढ़ाकर प्रस्तुत करना

विभाजनकारी विचारधारा – बांटनेवाली विचारधारा

कल्याणकारी राज – जनता की भलाई करने वाला शासन

बन्दरगाह – पानी के जहाजों के ठहरने का स्थान

3.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 3.4 के उत्तर

1. सत्य

2. असत्य

3.सत्य

4. असत्य

5. सत्य

1. ग्रैंड ओल्ड मैन

2. दी पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया

3. पारसी

4. ए हिस्ट्री ऑफ सिविलाइज़ेशन इन एंशिएंट इंडिया

5. भू-राजस्व नीतियों

3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1- ई. श्रीधरन, इतिहास–लेख: एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2011

2- बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1998

3- सुमित सरकार, आधुनिक भारत: 1885-1947, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002

4- द्विजेन्द्रनारायण झा, प्राचीन भारत: सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1- सब्यासाची भट्टाचार्य, "कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफ़ी" सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज़ एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-19 में, नई दिल्ली: इंदिरा गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

2- रजत रे, "दी कैम्ब्रिज स्कूल" सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज़ एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-23 में, नई दिल्ली: इंदिरा गॉधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

3- गारलैण्ड कन्नॉन, दी लाइफ़ एंड माइंड ऑफ ओरियण्टल विलियम जोंस: सर विलियम जोंस, दी फ़ॉदर ऑफ माडर्न लिंगविस्टिक्स, न्यूयार्क: कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1990

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वातंत्रय-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन पर आर. सी. दत्त एवं दादाभाई नौरोजी के विशेष सन्दर्भ में चर्चा कीजिए।

इकाई एक– ईसाई धर्म एवं इतिहास चिंतन

1..1. प्रस्तावना

प्राचीनकालीन इतिहास लेखन (ग्रीको–रोमन, चीनी तथा भारतीय) की तुलना में मध्यकालीन इतिहास लेखन की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें दैवीय विधान को महत्व दिया गया जिसमें कि व्यक्ति की भूमिका नाम मात्र की थी। मध्यकालीन, विशेषकर ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया और विधर्मियों पर ईसाइयत की विजय ने ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा के लिए प्रेरित किया। ईसाई इतिहासकारों ने यहूदी धार्मिक ग्रंथों को मूल स्रोतों के रूप में स्वीकार किया। ईसाई धर्म के व्यापक प्रचार–प्रसार और रोमन साम्राज्य में सम्राट कॉन्सटैन्टाइन प्रथम के काल के पश्चात उसकी प्रतिष्ठा में अपार वृद्धि के परिणामस्वरूप ईसाई धर्म–विज्ञान एवं बाइबिल में निहित सिद्धान्तों को समाविष्ट करके एक विशिष्ट ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा का विकास हुआ। मध्यकाल में ईसाई सन्यासियों एवं पुरोहित वर्ग की इतिहास–लेखन में अत्यधिक अभिरुचि थी। उन्होंने यीशू मसीह, चर्च और उसके संरक्षकों तथा स्थानीय शासकों के राजवंशीय इतिहास के विषय में प्रचुर मात्रा में लिखा। प्रारम्भिक मध्यकाल में

ऐतिहासिक रचनाओं का स्वरूप आख्यानों अथवा इतिवृत्तों के रूप में होता था जिनमें कि साल दर साल की घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन होता था। केवल तिथिक्रमानुसार घटनाओं के वृतान्त की इस शैली के लेखन में विशिष्ट घटनाओं और उनके कारणों के विश्लेषण की सम्भावना नहीं रह पाती थी। मध्यकालीन ईसाई इतिहास लेखन वास्तव में हेलेनिस्टिक व रोमन इतिहास लेखन परम्परा की ही अगली कड़ी है। ईसाई इतिहाकारों ने जिस काल को अपने लेखन का विषय बनाया, उस काल के परिवेश, परिस्थिति एवं अवस्थिति का सामान्यतः उनके लेखन पर प्रभाव पड़ा है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको मध्यकाल में ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रंथों की विषय–वस्तु, इतिहास–लेखन के उनके उद्देश्य, ऐतिहासिक स्रोत एकत्र करने की उनकी तकनीक, उनके द्वारा प्रस्तुत जानकारी की प्रामाणिकता, उनके पूर्वाग्रह, इतिहास–लेखन के क्षेत्र में उनके योगदान आदि से अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

1– ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा

2. ईसाई इतिहास लेखन की विशेषताएं।

3– ईसाई इतिहास लेखन में यीशू मसीह और बाइबिल की महत्ता।

4– ईसाई इतिहास लेखन के गुण व दोष।

5– परवर्ती इतिहास–लेखन को ईसाई इतिहास–लेखन की देन।

1.3 ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा

1.3.1 प्रारम्भिक ईसाई इतिहास लेखन

मध्यकालीन इतिहास लेखन परम्परा में पश्चिमी इतिहास लेखन का विशिष्ट स्थान है। पश्चिमी इतिहास लेखन का प्रमुख केन्द्र बिन्दु ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा है। जहां ग्रीको–रोमन इतिहास लेखन परम्परा में बुद्धि एवं विवेक का स्थान था, वहीं ईसाई इतिहास लेखन परम्परा में धर्म को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। ईसाई इतिहासकारों ने विधर्मी इतिहास लेखन को शैतान की कृति कहकर उसकी भर्त्सना की थी किन्तु पूर्वकालीन इतिहास लेखन, विशेषकर ग्रीको–रोमन इतिहास लेखन व इतिहास–दर्शन ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनके लेखन को प्रभावित किया था। ईसाई इतिहास लेखन में 'ओल्ड टैस्टामैन्ट' को ऐतिहासिक स्रोत के रूप में प्रमुख स्थान दिया गया। प्रारम्भिक काल में ईसाई मतानुयायी यीशू मसीह के शिष्यों और धर्म प्रचारकों द्वारा उनके उपदेशों एवं उनके कृत्यों के वृतान्त पर निर्भर करते थे परन्तु धीरे–धीरे जब यीशू मसीह के समकालीन काल के गाल में समाते चले गए तो इस श्रुत परम्परा का स्थान लिखित दस्तावेज़ों ने ले लिया। प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में लिखित 'गॉस्पल ऑफ़ मार्क', 'गॉस्पल

ऑफ़ मैथ्यू', 'गॉस्पल ऑफ़ ल्यूक' तथा द्वितीय शताब्दी में लिखित 'गॉस्पल ऑफ़ जॉन' में यीशू मसीह के उपदेशों को ईश्वरीय वचन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'गॉस्पल ऑफ़ मार्क' (रचनाकाल 65–70 ईसवी) सम्भवतः प्रथम यहूदी–रोमन युद्ध के पश्चात लिखी गई थी। 'गॉस्पल ऑफ़ मैथ्यूज़ (रचनाकाल 80–85 ईसवी) का लक्ष्य यहूदियों के समक्ष यह बात रखने का था कि यीशू मसीह ही हमारा मुक्तिदाता मसीहा है और वह मोज़ेज़ से भी महान है। 'दि गॉस्पल ऑफ़ ल्यूक' (रचनाकाल 85–90 ईसवी) और 'ल्यूक एक्ट्स' को सभी गॉस्पल्स में साहित्यिक दृष्टि से सबसे उत्कृष्ट और कलात्मक माना जाता है। अन्त में 'गॉस्पल ऑफ़ जॉन' (रचनाकाल दूसरी शताब्दी) का उल्लेख आवश्यक है जिसमें यीशू मसीह को दिव्यवाणी का सन्देश वाहक बताया गया है। इसमें यीशू मसीह स्वयं अपने जीवन के विषय में और अपने दिव्य अभियान के विषय में विस्तार से बोलते हैं। इसमें लॅज़ैरस के पुनरुत्थान जैसे चमत्कारों का भी उल्लेख है। 'जॉन ऑफ़ गॉस्पल' में यह दर्शाया गया है कि यीशू मसीह और उनके उपदेशों में आस्था रखने वालों की ही मुक्ति सम्भव है।

जोसेफ़स

जोसेफ़स की रचनाओं में यहूदी शासन काल के मैकाबीस, होस्मैनियन राज्यवंश तथा हीरोद महान के उत्थान तथा प्रारम्भिक ईसाई काल की जानकारी उपलब्ध है।

टैसिटस

टैसिटस के इतिवृत्त को हम पहला ज्ञात धर्म–निरपेक्ष इतिवृत्त कह सकते हैं। टैसिटस ने नीरो द्वारा ईसाइयों के उत्पीड़न का सजीव चित्रण किया है।

सेक्सटस जूलियस एफ़्रीकैनस (180–250 ईसवी)

सेक्सटस जूलियस एफ़्रीकैनस की 5 खण्डों की पुस्तक 'क्रोनोग्राफ़िया' को हम तिथि–क्रमानुसार वृतान्त की पहली रचना कह सकते हैं। एफ़्रीकैनस का यह विश्वास है कि यीशू मसीह के 500 वर्ष बाद ही संसार का विनाश हो जाएगा। एफ़्रीकैनस ने मूल स्रोतों के स्थान पर मेनेथो, बिरोसस, अपोलोडोरस, जोसेफ़स तथा जस्टस की रचनाओं को आधार बनाकर अपने ग्रंथ की रचना की है। इस दृष्टि से हम एफ़्रीकैनस की रचना को मौलिक रचना की श्रेणी में नहीं रख सकते।

यूज़िबियस (260–340 ईसवी) –

ग्रीको–रोमन परम्परा में बुद्धि व विवेक का सर्वोपरि स्थान था किन्तु ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया था। सिज़ेरिया के निवासी यूज़िबियस द्वारा सन् 324 के आसपास रचित प्रथम कलीसियायी इतिहास में लिखित स्रोतों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया। प्रथम शताब्दी से लेकर यूज़िबियस ने अपने समय तक ईसाई धर्म के विकास का तिथि–क्रमानुसार सिलसिलेवार इतिहास लिखा है। यूज़िबियस की रचनाओं में 'हिस्टोरिया एक्लेसियास्टिका', 'डिमॉन्सट्रेशन ऑफ़ दि गॉस्पल', 'प्रिपरेशन इवैन्जेलिका', 'डिस्क्रिपेन्सीज़ बिटवीन दि गॉस्पल्स' तथा 'स्टडीज़ ऑफ़ दि बाइबिकल टेक्स्ट' प्रमुख हैं। यूज़िबियस अपने ग्रंथों में प्लैटो तथा फ़िलो के ग्रंथों का उपयोग करता है। वह ओक ऑफ़ मार्नरे की धार्मिक परम्पराओं का उल्लेख करता है तथा ओल्ड व न्यू टैस्टामेनट की समीक्षा करता है। रोमन सम्राटों, विशेषकर कॉन्सटैन्टाइन प्रथम के शासन काल, यहूदियों और ईसाइयों के मध्य सम्बन्ध और ईसाई शहीदों के विषय में

यूज़िबियस

उसने विस्तार से लिखा है। यूज़िबियस सामाजिक एवं धार्मिक पहलुओं पर भी प्रकाश डालता है। ईसाई धर्म–विज्ञान में यह माना जाता है कि समय एक रेखा के रूप में ईश्वरीय योजना के अनुसार आगे बढ़ता है। चूंकि ईश्वरीय योजना में सभी समाहित होते हैं इसलिए ईसाई इतिहास लेखन का दृष्टिकोण सार्वभौमिक होता है। सिज़ेरिया के निवासी यूज़िबियस के चौथी शताब्दी में रचित चर्च सम्बन्धी इतिहास में प्रथम शताब्दी से लेकर उसके अपने समय तक ईसाई धर्म के विकास का तिथि–क्रमानुसार सिलसिलेवार इतिहास वर्णित है। यूज़िबियस के ग्रंथ 'कोनिक ग्रीक' भाषा में लिखे गए हैं और अब इनके लैटिन, सीरियिक तथा आर्मीनियन संस्करण भी उपलब्ध हैं। यूज़िबियस के ग्रंथों को हम ईसाई दृष्टिकोण से लिखे गए पहले सम्पूर्ण इतिहास–ग्रंथ कह सकते हैं। यूज़िबियस ने अपने ग्रंथों की रचना में अनेक धार्मिक दस्तावेज़ों, शहीदों के कृत्यों, पत्रों, पूर्व में लिखे गए ईसाई ग्रंथों के सार–संक्षेपों, बिशपों की सूचियों आदि का उपयोग किया है और उसने अपने ग्रंथों में ऐसे मूल स्रोत–ग्रंथों का उल्लेख कर उनके विस्तृत उद्धरण भी दिए हैं जो कि अब अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं। यूज़िबियस पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह जानबूझ कर तथ्यों को तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करता है और व्यक्तियों व तथ्यों मूल्यांकन के समय वह निष्पक्ष तथा तटस्थ नहीं रहता है।

सन्त एम्ब्रोज़ (340–497 ईसवी)

सन्त एम्ब्रोज़ ने सन्त अगस्ताइन के विचारों और उनके लेखन पर विशेष प्रभाव डाला था। उनकी रचनाओं में 'फ़ेथ टु ग्रैशियन ऑगस्टस', 'दि होली घोस्ट' तथा 'दि मिस्ट्रीज़' प्रमुख हैं।

1.3.2 सन्त अगस्ताइन (354–430 ईसवी)

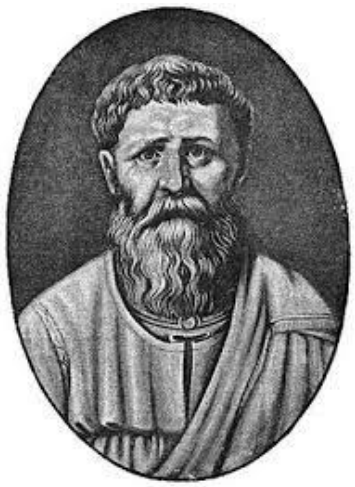

अगस्ताइन

मध्ययुगीन ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि संत अगस्ताइन थे।

उन्होंने ऐतिहासिक लेखन में दैवीय घटनाओं को प्रमुखता दी थी। सन्त अगस्ताइन इतिहासकार, धर्म–विज्ञानी, दार्शनिक, शिक्षक एवं कवि थे। 'सिटी ऑफ़ गॉड' उनकी प्रमुख रचना है। सन्त अगस्ताइन ने ईश्वर की आज्ञा का पालन मनुष्य का परम कर्तव्य माना है। उनके अनुसार ईश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले देवता व मनुष्य देव नगर में निवास करते हैं जब कि उसके विरोधी पाप नगर में रहने के लिए अभिशप्त हैं। अपने इस विचार की पुष्टि के लिए सन्त अगस्ताइन रोम के उत्थान और पतन का दृष्टान्त देते हैं। उनके अनुसार रोम का उत्थान ईश्वरीय अनुकम्पा के कारण हुआ परन्तु कालान्तर में जब रोम–वासियों ने अपने जीवन और विचारों में पाप, अन्याय व अनैतिकता को स्थान दिया तो उन्हें ईश्वरीय कोप का भाजन होना पड़ा जिसके फलस्वरूप रोम का पतन हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर को भुला देने वालों अथवा उसकी आज्ञा का पालन न करने वालों को ईश्वर द्वारा दण्डित किया जाता है। सन्त अगस्ताइन की दृष्टि में राज्य की उत्पत्ति में कुछ भी दैविक नहीं है। ये मानव–निर्मित संस्था है अतः इसमें दोषों का होना स्वाभाविक है। जब इसमें अच्छाइयों का आधिक्य होता है तो इसका उत्थान होता है और जब इसमें बुराइयां घर कर जाती हैं तो इसका पतन होता है। छोटे से छोटे राज्यों से लेकर बड़े से बड़े साम्राज्यों तथा सभी संस्कृतियों के उत्थान और पतन के साथ यही दैविक–नियम लागू होता है। ईश्वर कृत रचनाओं में सब कुछ निर्दोष एवं परिपूर्ण होता है जब कि मानव–निर्मित रचनाओं में मौलिकता का अभाव व अपूर्णता होती है। कोई भी शासन–व्यवस्था निर्दोष व परिपूर्ण नहीं नहीं हो सकती परन्तु चर्च की रचना ईश्वर ने की है इसलिए वह दोषरहित व परिपूर्ण हो सकता है। 'सिटी ऑफ़ गॉड' एक धार्मिक साम्राज्य है। मानव–निर्मित साम्राज्य की स्थापना बिना रक्तपात के नहीं हो सकती जब कि ''सिटी ऑफ़ गॉड' अपना आधिपत्य बिना रक्तपात के स्थापित करता है। मानव–निर्मित राज्यों को अपने क्षण–भंगुर कानूनों के अनुपालन के लिए सैन्य दल की आवश्यकता होती है जब कि ईश्वर निर्मित राज्य में शाश्वत दैविक नियमों के अनुपालन हेतु किसी वाह्य बल की आवश्यकता नहीं होती है।

सन्त अगस्ताइन का इतिहास लेखन मुख्य रूप से धर्मनिर्पेक्ष एवं धर्मतन्त्रात्मक शक्तियों के मध्य संघर्ष की गाथा है जिसमें कि उन्होंने धर्मतन्त्रात्मक पक्ष का समर्थन किया है। सन्त अगस्ताइन के अनुसार ईश्वरीय आदेश का पालन करने वाले को स्वर्गलोक में वास करने का अधिकार मिलता है जब कि उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने वाले को नर्क में रहने के लिए अभिशप्त होना पड़ता है। सन्त अगस्ताइन रोमन साम्राज्य के इतिहास का उल्लेख करते हुए यह बतलाते हैं कि उसका उत्थान प्रभु की कृपा के कारण हुआ किन्तु उसका पतन कालान्तर में पाप, अन्याय व अनैकिता के कारण अर्थात् ईश्वरीय आदेश की अवज्ञा के कारण हुआ। दृष्टान्त देते हुए सन्त अगस्ताइन के इतिहास लेखन की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह घटनाओं को तोड़–मरोड़कर उनका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करते हैं कि उनका अपना मन्तव्य सिद्ध हो जाए। इन कमियों के बावजूद उनके ग्रंथ 'सिटी ऑफ़ गॉड' को प्लैटो के ग्रंथ 'रिपब्लिक', सर टॉमस रो के ग्रंथ 'उटोपिया' तथा बैकन के ग्रंथ 'अटलान्टिस' के समकक्ष रखा जाता है।

1.3.3 सन्त अगस्ताइन के परवर्ती ईसाई इतिहासकार

पॉलस ओरोसियस (380–420 ईसवी)

सन्त अगस्ताइन के शिष्य और इतिहास लेखन में उनके अनुयायी पॉलस ओरोसियस की मान्यता है कि विभिन्न समुदायों के भाग्य ईश्वर द्वारा ही निर्धारित होता है। ओरोसियस की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक – 'सेवेन बुक्स ऑफ़ हिस्ट्री अगेन्स्ट दि पैगन्स' की रचना सन् 411–418 के मध्य हुई थी। इस ग्रंथ में मानव की सृष्टि से लेकर गॉलों द्वारा रोम के विनाश तक का इतिहास है। ओरोसियस के लेखन पर सन्त अगस्ताइन के अतिरिक्त हेरोडोटस लिवी तथा पोलीबियस की रचनाओं स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। ओरोसियस के ऐतिहासिक ग्रंथ में अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों तथा देशों का उल्लेख ही नहीं किया गया है। इस अपूर्णता के अतिरिक्त ओरोसियस के इतिहास ग्रंथ का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह जानबूझ कर यह प्रदर्शित करता है कि ईसाई धर्मावलम्बियों की तुलना में अन्य धर्मों के अनुयायियों को युद्ध, महामारी, अकाल, भू–कम्प, बाढ़, बिजली गिरना, तूफ़ान, आपराधिक घटनाओं आदि का अधिक सामना करना पडा है।

सन्त जेरोम (347–420 ईसवी)

सन्त जेरोम ने सन् 391 में पूर्व काल के 135 लेखकों के जीवन वृतान्त वाली पुस्तक 'दि विरिस इल्यस्ट्रिबस सिवे दि स्क्रिप्टोरिबस एक्लेसियास्टिक्स' की रचना की थी। उसकी अन्य रचनाओं में 'लाइफ़ ऑफ़ पॉल', 'दि फ़र्स्ट हेरमिट' तथा 'वल्गेट' प्रमुख हैं।

मार्क औरेलियस कैसीडोर (480–570 ईसवी)

इटली के निवासी मार्क औरेलियस कैसीडोर की रचनाओं 'वेराय', 'हिस्ट्री ऑफ़ गोथ'
तथा 'हिस्टोरिया ट्रिपार्टिया' में ऑस्ट्रोगोथ काल के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झांकी मिलती है।

वेनरेबिल बेडे (672–735 ईसवी)

वेनरेबिल बेडे ने 'एक्लेसियास्टिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश पीपुल' में जूलियस सीज़र के काल से लेकर सन् 735 तक इंग्लैण्ड के धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास का वर्णन किया है।

1.4 ईसाई इतिहास लेखन की विशिष्टताएं

1.4.1 इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता

ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में घटनाएं उस रूप में नहीं देखी गईं, जिस रूप में वो घटित हुईं बल्कि उन घटनाओं को एक दैवीय आवरण पहना कर उन्हें ईश्वरीय इच्छा के रूप में प्रस्तुत किया गया। ईसाई धर्मावलम्बी इतिहास चिन्तकों की दृष्टि में ब्रह्माण्ड में होने वाली हर घटना के पीछे ईश्वर की इच्छा होती है। इसमें घटना के अच्छे या उसके बुरे होने का कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है। ऐतिहासिक घटनाओं पर नियन्त्रण रख पाने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। मनुष्य तो भगवान के हाथ में एक खिलौने की तरह है परन्तु उनसे खेलते समय ईश्वर उनमें से किसी पर भी अपना विशेष अनुराग अथवा कोप प्रदर्शित नहीं करता है। ईसाई इतिहास की परम्परा में इतिहास को एक नाटक माना गया है। ईसाई धर्मावलम्बी इतिहास चिन्तक इतिहास की चक्रीय प्रकृति में विश्वास नहीं रखते हैं। उनका यह विश्वास है कि संसार में घटित सभी घटनाओं की दिशा ईश्वर द्वारा ही निर्धारित की जाती है। ईश्वर को सभी घटनाओं की परिणति का पहले से ही ज्ञान होता है। ईश्वर ऐतिहासिक शक्तियों का दिशा–निर्देशन करता है अतः ऐतिहासिक शक्तियां सार्वभौमिक हैं। ईसाई धर्मावलम्बी इतिहास चिन्तकों के अनुसार केवल उन राष्ट्रों का उत्थान होता है जो दैविक नियमों का पालन करते हैं और जो राष्ट्र उनका पालन नहीं करते उनका पतन अवश्यम्भावी होता है।

1.4.2 ऐतिहासिक बलों की दैविक प्रकृति

ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में प्रकृति का भौतिक विकास महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें इतिहास को मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्बन्धों का एक प्रवाह माना गया है। ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में इतिहास को एक नाटक माना गया है। इस नाटक के प्रथम अंक में आदम का स्वर्ग से पतन, पाप का प्रारम्भ तथा ईश्वर से विच्छेद है। इस नाटक के दूसरे अंक में यीशू मसीह का जन्म, उनके उपदेश, उनका सूली पर चढ़या जाना तथा उनका पुनरुत्थान है। इसके तीसरे अंक में चर्च की स्थापना तथा ईसाई धर्म का प्रचार है। इस नाटक के चतुर्थ एवं अन्तिम भाग में यीशू मसीह का पुनरागमन व ईसाई राज्य की स्थापना का वर्णन है।

ईसाई इतिहास चिन्तक ऐतिहासिक बलों की दैविक प्रकृति में आस्था रखते हैं। जो बल मनुष्य की समझ से परे होते हैं उन्हें दैविक कहा जाता है और उनका संचालन पूरी तरह ईश्वर द्वारा ही किया जाता है। इन दैविक बलों का प्रयोग स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर नहीं अपितु सार्वभौमिक रूप से किया जाता है।

1.4.3 ईसाई इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन

ईसाई इतिहास चिन्तकों ने विविध तिथिपरक घटनाओं के लिए ईसा के जन्म का प्रतिमान प्रस्तुत किया। उन्होंने केवल ईसाई तिथिक्रम को ही अपने समस्त ऐतिहासिक वृतान्तों के लिए पर्याप्त एवं परिपूर्ण माना है। घटनाओं का काल–निर्धाण करने के लिए उनका मापदण्ड केवल 'यीशू मसीह के जन्म से पूर्व' और 'उनके जन्म के पश्चात' का ही है। उनके लिए सभी ऐतिहासिक घटनाओं और सार्वभौमिक इतिहास का केन्द्र बिन्दु यीशू मसीह ही होते हैं। ईसाई धर्म–विज्ञान में यह माना जाता है कि समय एक रेखा के रूप में ईश्वरीय योजना के अनुसार आगे बढ़ता है। चूंकि ईश्वरीय योजना में सभी समाहित होते हैं इसलिए ईसाई इतिहास लेखन का दृष्टिकोण सार्वभौमिक होता है।

ईसाई इतिहासकारों ने समय का मुख्य रूप से दो कालों में विभाजन किया है – एक अंधकार का युग और दूसरा प्रकाश का युग। यीशू मसीह से पहले का काल अन्धकार का युग और उनके जीवनकाल व उनके बाद का काल (दोनों को मिलाकर) प्रकाश का युग माना जाता है। अन्धकार व प्रकाश युगों को विभिन्न उप–कालों में विभाजित किया गया है और फिर उनका, उनकी विशिष्टताओं के अनुरूप वर्णन किया गया है।

1.4.4 ईसाई इतिहास लेखन के आधार–स्रोत के रूप में बाइबिल की महत्ता

ईसाई धर्म में बाइबिल की केन्द्र–बिन्दु के रूप में महत्ता, ईसाई इतिहाकारों के लेखन में भी प्रतिबिम्बित होती है। शास्त्रीय युग के इतिहासकारों के विपरीत ईसाई इतिहाकारों ने अपने लेखन में मौखिक स्रोतों की तुलना में लिखित स्रोतों को अधिक वरीयता प्रदान की। ईसाई इतिहासकारों ने धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण किन्तु राजनीतिक दृष्टि से महत्वहीन व्यक्तियों को अपने लेखन में स्थान दिया। ईसाई इतिहासकारों ने धर्म और समाज के विकास को अपने लेखन में सर्वाधिक महत्व दिया।

1.5 ईसाई इतिहास लेखन के गुण व दोष

1.5.1 ईसाई इतिहास लेखन के दोष

1. इतिहास को एक दैविक योजना के रूप में देखने की हठवादी प्रवृत्ति

ईसाई इतिहासकार इतिहास में मनुष्य की स्वतन्त्र भूमिका को सर्वथा नकारते हैं। उनकी दृष्टि में नियति को अपने पौरुष से बदलने का दुःसाहस करने वाला हर व्यक्ति असफल होता है और पतन व विनाश के मार्ग पर अग्रसर होता है।

2. आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव

ईसाई इतिहास लेखन में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है। वास्तव में परम्परा और तथ्यों की वैधता, विश्वसनीयता एवं तर्कसंगतता का आकलन करने में उनकी कोई अभिरुचि नहीं है और न ही मूल स्रोत सामग्री का पर्याप्त उपयोग करने की उनमें क्षमता है। इन कारणों से उनकी रचनाओं में प्रामाणिकता का अभाव है।

3. इतिहास लेखन की आदर्श तकनीक की उपेक्षा

तथ्यों की प्रामाणिकता की जांच और अपने दृष्टिकोण को यथासम्भव तटस्थ बनाए रखने के स्थान पर ईसाई इतिहास लेखन में दुराग्रहता एवं पूर्व निश्चित अवधारणा का दोष दिखाई देता है। ईसाई इतिहास लेखन का मुख्य लक्ष्य चर्च की अन्य धार्मिक संस्थाओं की तुलना में निर्विवाद श्रेष्ठता तथा यीशू मसीह के उपदेशों की कालजयी उपयोगिता सिद्ध करना है। ईसाई इतिहास लेखन अन्य धर्मावलम्बियों के अवश्यम्भावी पतन पर निरन्तर ज़ोर देता है।

4. सामाजिक एवं आर्थिक कारकों की उपेक्षा

ऐतिहासिक घटनाओं में सामाजिक एवं आर्थिक कारकों की नितान्त उपेक्षा ईसाई इतिहास लेखन की एक बड़ी कमज़ोरी है। हर घटना के पीछे ईश्वरीय इच्छा का हाथ होने का विश्वास, उन्हें इतिहास निर्माण में सामाजिक एवं आर्थिक घटकों की महत्ता स्वीकार करने से रोकता है।

5. ऐतिहासिक स्रोतों के वर्गीकरण की दोषपूर्ण प्रणाली

ईसाई इतिहास लेखन की ऐतिहासिक स्रोतों के वर्गीकरण की प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें नयी स्रोत सामग्री एकत्र करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता है और पहले से उपलब्ध इतिवृत्त, सुव्यस्थित इतिहास एवं जीवनी को स्रोत सामग्री के रूप में प्रयुक्त करते समय उनमें किसी प्रकार कोई अन्तर नहीं किया जाता है।

1.5.2 ईसाई इतिहास लेखन के गुण

1. प्राचीन दस्तावेज़ों एवं अभिलेखों का संरक्षण

ईसाई इतिहासकारों ने प्राचीन दस्तावेज़ों एवं अभिलेखों का संरक्षण करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। परवर्ती काल के इतिहासकारों को मध्यकाल से सम्बन्धित अपने ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना में इससे बहुत सहायता मिली। वास्तव में मध्यकालीन इतिहास को जानने के लिए ईसाई इतिहास लेखन का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

2. ऐतिहासिक क्रमबद्धता

ईसाई इतिहासकारों ने तिथि–क्रमानुसार घटनाओं का वर्णन करने की एक नयी परम्परा का विकास किया।

3. धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास को महत्व

ईसाई इतिहासकारों ने धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विकास पर उपयोगी सामग्री उपलब्ध कराने में सफलता प्राप्त की है।

4. इतिहास लेखन की मुस्लिम परम्परा पर ईसाई इतिहास लेखन का प्रभाव

इतिहास लेखन की मुस्लिम परम्परा पर ईसाई इतिहास लेखन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ईसाई अवधारणा के अनुरूप ही इतिहास लेखन की इस्लामी अवधारणा में भी गॉड अर्थात् अल्लाह को ही सृष्टि

का नियंता माना गया है। मुस्लिम इतिहास लेखन में भी ईसाई इतिहास लेखन की भांति तिथि–क्रमानुसार घटनाओं का वर्णन किया गया है।

अभ्यास अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. इतिहासकार यूज़िबियस की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. ईसाई इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन पर प्रकाश डालिए।
3. सन्त अगस्ताइन के ग्रंथ 'सिटी ऑफ़ गॉड' की समीक्षा कीजिए।

1.5 सारांश

मध्यकाल में ईसाई सन्यासियों एवं पुरोहित वर्ग की इतिहास–लेखन में अत्यधिक अभिरुचि थी। उन्होंने यीशू मसीह, चर्च और उसके संरक्षकों तथा स्थानीय शासकों के राजवंशीय इतिहास के विषय में प्रचुर मात्रा में लिखा। ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा में धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया गया। मध्यकालीन ईसाई इतिहास लेखन वास्तव में हेलेनिस्टिक व रोमन इतिहास लेखन परम्परा की ही अगली कड़ी है। प्रथम शताब्दी में लिखित 'गॉस्पल ऑफ़ मार्क', 'गॉस्पल ऑफ़ मैथ्यू', 'गॉस्पल ऑफ़ ल्यूक' तथा 'गॉस्पल ऑफ़ जॉन' में यीशू मसीह के उपदेशों को ईश्वरीय वचन के रूप में प्रस्तुत किया गया। जोसेफ़स, टैसिटस, एफ्रीकैनस ('क्रोनोग्राफ़िया' का लेखक) यूज़िबियस ('हिस्टोरिया एक्लेसियास्टिका' तथा स्टडीज़ ऑफ़ दि बाइबिकल टेक्स्ट' का लेखक) तथा सन्त एम्ब्रोज़ प्रारम्भिक ईसाई लेखन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मध्ययुगीन ईसाई इतिहास लेखन की परम्परा के प्रमुख प्रतिनिधि संत अगस्ताइन हैं जिन्होंने कि ऐतिहासिक लेखन में दैवीय घटनाओं को प्रमुखता दी है। 'सिटी ऑफ़ गॉड' उनकी प्रमुख रचना है। सन्त अगस्ताइन के परवर्ती ईसाई इतिहासकारों में पॉलस ओरोसियस, सन्त जेरोम, मार्क औरेलियस कैसीडोर, तथा वेनरेबिल बेडे प्रमुख हैं। ईसाई इतिहास लेखन की विशिष्टताओं में इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता, ऐतिहासिक बलों की दैविक प्रकृति, इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन, इतिहास लेखन के आधार–स्रोत के रूप में बाइबिल की महत्ता सम्मिलित हैं। ईसाई इतिहास लेखन में इतिहास को एक दैविक योजना के रूप में देखने की हठवादी प्रवृत्ति, आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव, इतिहास लेखन की आदर्श तकनीक की उपेक्षा, सामाजिक एवं आर्थिक कारकों की उपेक्षा तथा ऐतिहासिक स्रोतों के वर्गीकरण की दोषपूर्ण प्रणाली प्रमुख दोष कहे जा सकते हैं।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

ग्रीको–रोमन इतिहास – संयुक्त रूप से यूनान तथा रोम का इतिहास

दैवी विधान – भगवान का कानून

हेलनिस्टिक – यूनानी

एक्लेसियास्टिका – चर्च सम्बन्धी

गॉस्पल – शुभ–सन्देश

पैगन – बहु–देवपूजक

अभ्यास प्रश्न

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 1.3.1 प्रारम्भिक ईसाई इतिहास लेखन
2. देखिए 1.4.3 ईसाई इतिहास लेखन में तिथिक्रम तथा काल–विभाजन
3. देखिए 1.3.2 सन्त अगस्ताइन

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

टॉयनबी, ऑर्नाल्ड, जे0 – ***ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री,*** **12 खण्ड, लन्दन, 1946**

टॉयनबी, ऑर्नाड, जे0 – ***क्रिश्चियैनिटी अमॉन्ग दि रिलीजन्स ऑफ़ दि वर्ड,*** **न्यूयॉर्क, 1956**

श्रीधरन, ई0 – ***ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी,*** **नई दिल्ली, 2013**

1.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

कार, ई0 एच0 – ***व्हाट इज़ हिस्ट्री,*** **लन्दन, 1962**

कॉलिंगवुड, आर0 जी0 – ***दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री,*** **लन्दन, 1978**

टॉम्सन, जे0 डब्लू0 – ***ए हिस्ट्री ऑफ़ हिस्टॉरिकल राइटिंग्स,*** **न्यूयॉर्क, 1954**

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

ईसाई इतिहास लेखन के गुण–दोषों की विवेचना कीजिए।

इकाई दो– रॉके के विशेष संदर्भ में इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम

2..1. प्रस्तावना

मध्यकाल तक इतिहास को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता नहीं मिली थी। इतिहास को साहित्य अथवा दर्शन की एक शाखा ही माना जाता था। सत्रहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक क्रान्ति ने इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का समावेश किया गया किन्तु अठारहवीं शताब्दी तक इतिहासकारों को यह समझ नहीं थी कि समय के साथ हर युग की विशिष्टताएं बदल जाती हैं। बार्टहोल्ड नेबूर (1776–1831) ने इतिहास को गौण विषय से एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। उसकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ रोम' (1811–12) से आधुनिक ऐतिहासिक प्रणाली का जन्म माना जाता है। प्राचीन रोम के इतिहास के सन्दर्भ में बार्टहोल्ड नेबूर द्वारा ऐतिहासिक अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रणाली का विस्तार कर लियोपोल्ड वॉन रॉके ने इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम का विकास किया। नेबूर के बाद रॉके को

यह श्रेय दिया जाता है कि उसने इतिहास में व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रचलित किया।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के इतिहास लेखन की दुर्बलताओं से अवगत कराया जाएगा और यह बताया जाएगा कि किस प्रकार नेबूर तथा रॉके ने इतिहास–दर्शन के निश्चयात्मक अभिगम का विकास कर आधुनिक इतिहास लेखन को एक वैज्ञानिक आधार देकर उसे एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इस इकाई में इतिहास के क्षेत्र में रॉके के योगदान की विस्तार से चर्चा तथा समीक्षा की जाएगी। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

1– नेबूर तथा रॉके से पूर्व इतिहास लेखन में व्याप्त दोष।

2– रॉके के ऐतिहासिक ग्रंथों का विवेचनात्मक अध्ययन।

3– रॉके की इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम तथा उसका परवर्ती इतिहासकारों पर प्रभाव।

2.3 रॉके से पूर्व के मध्यकालीन इतिहासकारों की समीक्षा

2.3.1 नेबूर से पूर्व के इतिहास–लेखन के दोष

मध्यकाल तक इतिहास को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता नहीं मिली थी। इतिहास को साहित्य अथवा दर्शन की एक शाखा ही माना जाता था। सत्रहवीं की वैज्ञानिक

क्रान्ति ने इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का समावेश किया गया किन्तु इतिहास लेखन में अभी भी मुख्य रूप से तीन दोष विद्यमान थे –

1. समय के अनुरूप परिवर्तन के प्रति अनभिज्ञता

अठारहवीं शताब्दी तक इतिहासकारों को यह समझ नहीं थी कि समय के साथ हर युग की विशिष्टताएं बदल जाती हैं। वोल्तेयर तथा गिबन के मध्यकालीन इतिहास विषयक आकलन में इस समझ की कमी स्पष्ट दिखाई देती है।

2. प्राथमिक स्रोतों की अनुपलब्धता तथा मान्य प्रणालीगत सिद्धान्तों की अनुपस्थिति

ज्ञानोदय काल के ऐतिहासिक ग्रंथ कम विद्वत्तापूर्ण किन्तु अधिक व्याख्यात्मक थे। अनेक इतिहासकारों को को विस्तृत वर्णन देना पसन्द नहीं था जिस कारण उनके लेखन में असावधानी और तथ्यात्मक त्रुटियां आ जाती थीं। आमतौर पर प्राथमिक स्रोत, शासकों, ड्यूकों और चर्च के आधीन होते थे इस कारण इतिहासकार इतिहास लेखन के लिए प्रायः उपलब्ध सहायक ग्रंथों से ही प्राप्त सामग्री पर निर्भर करते थे। प्राथमिक

स्रोतों की उपलब्धता की स्थिति में भी इतिहासकार मान्य प्रणालीगत सिद्धान्तों की अनुपस्थिति के कारण उनका समुचित उपयोग करने में असमर्थ होते थे।

3. इतिहास के अध्ययन में संगठन एवं वर्गीकरण की कमी

इतिहास को एक बौद्धिक विषय के रूप में कहीं भी स्वीकृत नहीं किया जाता था। सामान्यतः राजसत्ता के अपनी पसन्द के विद्वानों को ही इतिहास लेखन का दायित्व सौंपा जाता था। प्रमुख शैक्षिक संस्थाओं में इतिहास को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता नहीं मिली थी।

2.3.2 बार्टहोल्ड नेबूर (1776–1831)

नेबूर ने इतिहास को गौण विषय से एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। उसकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ रोम' (1811–12) से आधुनिक ऐतिहासिक प्रणाली का जन्म माना जाता है। बीस भाषाओं तथा भाषा–शास्त्र के जानकार नेबूर ने प्राचीन रोम की राजनीतिक, विधि–सम्मत और आर्थिक संस्थाओं से सम्बद्ध प्राथमिक स्रोतों का गहन अध्ययन किया और फिर उनका आलोचनात्मक परीक्षण करने के बाद ही उसने 'हिस्ट्री ऑफ़ रोम' की रचना की। नेबूर इतिहासकार से यह अपेक्षा करता है कि वह ईश्वर के समक्ष सर उठाकर यह कह सके कि – 'उसने न तो जानबूझकर असत्य का आश्रय लिया है और न ही तथ्यों की गहन खोज किए बिना उन्हें प्रस्तुत किया है।'

बार्टहोल्ड नेबूर

ग्रोटे, वेट्ज़, डिल्थी तथा मोमसेन ने नेबूर को सभी परवर्ती इतिहासकारों का मार्गदर्शक माना है। रॉके अपने दृष्टिकोण एवं लेखन–प्रणाली पर नेबूर के ग्रंथ 'रोमन हिस्ट्री' में प्रयुक्त प्रणाली का ऋण स्वीकार करता है।

2.4 इतिहासकार लियोपोल्ड वॉन रॉके

2.4.1 रॉके का प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी रचनाएं

इतिहास में आधुनिक शास्त्रीय अध्ययन और इतिहास लेखन की प्रणाली में पथप्रदर्शक की भूमिका 19 वीं शताब्दी के जर्मन विश्वविद्यालयों, विशेषकर, गॉन्टिनजेन विश्वविद्यालय ने निभाई थी। महानतम जर्मन इतिहासकार, वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन के जनक, मूल्यों से मुक्त वस्तुनिष्ठता के मसीहा तथा आलोचनात्मक इतिहास–विज्ञान के संस्थापक – लियोपोल्ड वॉन रॉके ने इस क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय योगदान दिया है। यूनीवर्सिटी ऑफ लीपज़िग में रॉके ने धर्म–शास्त्र एवं शास्त्रीय दर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी। जिमनेशियम ऑफ़ फ्रैंकफ़र्ट में सात वर्ष अध्यापन कार्य करने के दौरान अचानक ही रॉके की अभिरुचि दर्शन के स्थान

पर इतिहास में हो गई। प्राचीन रोम के इतिहास के सन्दर्भ में बार्टहोल्ड नेबूर द्वारा ऐतिहासिक अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रणाली का विस्तार कर रॉके ने इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम का विकास किया।

लियोपॉल्ड वॉन रांके

बावेरिया के शासक मैक्समिलियन द्वितीय ने रॉके से प्रभावित होकर ने बावेरियन एकेडमी ऑफ़ साइंस के अन्तर्गत 1858 में हिस्टोरिकल कमीशन की स्थापना की और रॉके को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया। अपने ग्रंथ 'दि हिस्ट्री ऑफ़ दि लैटिन एण्ड ट्यूटोनिक पीपुल्स फ्रॉम 1494 टु 1514' से ही रॉके ने अपने समकालीन इतिहासकारों की तुलना में विविध ऐतिहासिक स्रोतों का अत्यधिक विस्तृत अध्ययन किया। इनमें संस्मरण, दैनन्दिनी, व्यक्तिगत एवं औपचारिक पत्र, सरकारी दस्तावेज़, कूटनीतिक विज्ञप्ति और प्रत्यक्षदर्शियों का आँखो–देखा वृतान्त सम्मिलित थे। रॉके को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उसी के कारण परवर्ती काल की शैक्षिक संस्थाओं में सुव्यवस्थित अभिलेखीय शोध और स्रोत–समीक्षा के सिद्धान्तों को अपनाया जाना एक आम बात हो गई।

रॉके इतिहास की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार करता है। 'हिस्ट्री ऑफ़ दि लैटिन एण्ड जर्मेनिक नेशन्स' में वह कहता है –

' आप यह समझते हैं कि इतिहास को भूतकाल का आकलन करने का तथा भविष्य के कल्याण हेतु वर्तमान को निर्दिष्ट करने का दायित्व दिया गया है। परन्तु मेरा ग्रंथ ऐसी कोई आशा नहीं रखता है। यह तो केवल यह प्रस्तुत करने की कोशिश करना चाहता है कि वास्तव में क्या घटित हुआ।'

रॉके के पूर्ववर्ती इतिहासकार अपने ग्रंथों की रचना करते समय बिना अभिलेखीय शोध किए हुए पूर्व–रचित ग्रंथों की हू–ब–हू नकल कर लेते थे और स्रोत–विश्लेषण का आलोचनात्मक परीक्षण भी नहीं करते थे। रॉके किस प्रकार किसी चयनित विषय पर शोध करता था? अपनी पहली ही रचना से लेकर अपनी अन्तिम रचना तक रॉके ने अभिलेखीय शोध हेतु अथक परिश्रम किया था। अपने जीवन में उसने 50,000 दस्तावेज़ों को एकत्र किया था। अपने शोध में उसने गौण स्रोतों को भी महत्व दिया था। उसके निजी पुस्तकालय में 24,000 ग्रंथ थे।

1831 में उसने 'कॉन्सिपिरेसी ऑफ़ वेनिस–1618' की रचना की। इस पुस्तक में रॉके ने यूरोपीय इतिहास के एक विशिष्ट क्षण (एक खास घटना) का, तथा उससे सम्बन्धित मूल स्रोतों का विश्लेषण किया है। रॉके ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृष्य को इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में सफलता प्राप्त की।

उसका कहना था – 'इतिहास में विशेष तथ्य का उल्लेख होता है किन्तु उसे व्यापक सन्दर्भ ही देखा जाना चाहिए।'

1832–36 में वह 'हिस्टोरिको.पोलिटिकल रिव्यू' का सम्पादक रहा।

1834 से 1836 के मध्य उसने बहु–खण्डी 'हिस्ट्री ऑफ़ दि पोप्स, देयर चर्च एण्ड देयर स्टेट इन दि सिक्सटीन्थ एण्ड सेवेन्टीन्थ सेन्चुरीज़' की रचना की। प्रोटैस्टेन्ट मत के अनुयायी होने के कारण उसे वैटिकन अभिलेखगार जाकर मूल स्रोतों का अध्ध्यन करने की अनुमति प्राप्त नहीं हुई किन्तु उसने इस हेतु रोम तथा वेनिस में उपलब्ध सभी निजी पत्रों का विस्तृत अध्ध्यन कर इस वृहद ग्रंथ की रचना की थी। रॉके ने पोप के पद को यूरोपीय सभ्यता को एकीकृत करने का श्रेय दिया है। इस पुस्तक का सार प्रति–धर्मसुधार आन्दोलन था जिसका कि रॉके पहला आधिकारिक व्याख्याकार था। जी0 पी0 गूच ने इस ग्रंथ में रोमन कैथोलिकों एवं प्रोटेस्टैन्टों के प्रति पूर्णरूपेण तटस्थ भाव रखने के लिए रॉके की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

रॉके ने 1839 से 1843 के मध्य 'जर्मन हिस्ट्री ऐट दि टाइम ऑफ़ दि रिफ़ॉर्मेशन' की रचना की। इस पुस्तक का विषय प्रोटेस्टैन्ट मत की उत्पत्ति है किन्तु गूच के अनुसार इसमें रॉके ने मार्टिन लूथर की उपलब्धियों को बढ़ा–चढ़ा कर दिखाया है।

1847–48 में रॉके ने 'नाइन बुक्स ऑफ़ प्रशियन हिस्ट्री' की रचना की जिसमें कि उसने एक महा–शक्ति के रूप में प्रशा के उत्थान पर प्रकाश डाला है। रॉके हिंसक क्रान्ति का पोषक नहीं था क्योंकि वह ईश्वर प्रदत्त विधान में विश्वास रखता था। 1836 में लिखे गए अपने लेख – 'डॉयलॉग ऑन पोलिटिक्स' में उसने यह कहा है कि ईश्वर द्वारा हर देश को एक खास नैतिक चरित्र प्रदान किया गया है। उसने इन देशों के निवासियों से यह अपेक्षा की कि वो अपने–अपने राष्ट्र के विशिष्ट नैतिक चरित्र को उत्कृष्टता तक पहुंचाने के लिए हर सम्भव प्रयास करें। रॉके तथ्यों की प्रस्तुति में भले ही तटस्थता का दावा करता हो किन्तु उसके इतिहास लेखन में उसकी अपनी पसन्द और नापसन्द की झलक मिल जाती है। ई0 एच0 कार 'व्हाट इज हिस्ट्री' में कहता है – 'तथ्य वही बोलते हैं जो इतिहासकार उनसे बुलवाता है।'

1859 में रॉके ने इतिहास सम्बन्धित पत्रिका 'हिस्टोरिक पोलिट्ज़े ज़ीट्शरिफ़्ट' का प्रकाशन किया जिसका कि उद्देश्य इतिहास लेखन को वैज्ञानिक आधार प्रदान करना और ऐतिहासिक शोध की एक निश्चित एवं यथार्थवादी प्रणाली का प्रतिनिधित्व करना था। अपनी इस पत्रिका में रॉके ने उदारतावाद पर प्रहार किए।

रॉके ने यूरोप की सभी महा–शक्तियों का पृथक–पृथक इतिहास लिखा। इन इतिहास– ग्रंथों में 'दि ओटोमन एण्ड दि स्पैनिश एम्पायर्स इन दि सिक्सटींथ एण्ड सेविन्टींथ सेन्चुरीज़', 'हिस्ट्री ऑफ़ फ्रांस

(1852–61)', 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड (1859–68)' तथा 'दि जर्मन पॉवर्स एण्ड दि प्रिन्सेज़ लीग (1871)' प्रमुख हैं। रॉके ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ़ फ्रांस' में स्वयं जर्मन होते हुए भी फ्रान्सीसियों के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखी है। इस पुस्तक में उसने एकछत्र राजतन्त्र के अन्तर्गत हेनरी चतुर्थ के चरित्र और उसकी नीतियों, सली के आर्थिक सुधारों, रिशलू की महानता व निष्ठुरता, मैज़ेरिन का मिथ्याभिमान और उसका लालच तथा लुई चौदहवें के शासन की विस्तार से चर्चा की गई है। रॉके ने लुई चौइहवें की विदेश नीति की भर्त्सना की है किन्तु कला, साहित्य और विज्ञान के विकास में उसके योगदान की सराहना की है। अपने जीवन के अन्तिम चरण में रॉके ने सार्वभौमिक इतिहास 'यूनीवर्सल हिस्ट्रीः दि ओल्डेस्ट हिस्टोरिकल ग्रुप ऑफ़ नेशन्स एण्ड दि ग्रीक' की रचना की। रॉके की एक अन्य महत्वपूर्ण रचना के अंग्रेज़ी अनुवाद का शीर्षक – 'दि सीक्रेट ऑफ़ वर्ड हिस्ट्रीः सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑन दि आर्ट एण्ड साइंस ऑफ़ हिस्ट्री' है।

2.4.2 रॉके का इतिहास–दर्शन

यूनानी इतिहासकार थ्यूसीडाइडीस (456–396 ईसा पूर्व) घटनाओं की तह तक जाकर तथ्यों को एकत्र करता था और वह तथ्यों को इतिहास की रीढ़ की हड्डी मानता था। यूनानी इतिहासकार पोलिबियस ने सत्य को इतिहास की आँख माना था, वह कहता था कि यदि इतिहास में से सत्य निकाल लिया जाए तो वह अंधा हो जाएगा। चीनी इतिहास लेखन में भी तथ्यों की यथार्थता पर विशेष बल दिया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास लेखन के लिए प्रामाणिक तथ्यों की आवश्यकता पर ग्रैण्ड ग्राउण्ड ने लिखा था – 'मुझे तथ्य चाहिए और जीवन में हमको केवल तथ्यों की आवश्यकता है।'

रॉके ने स्रोतों की विश्वसनीयता अर्थात् उनकी निश्चयात्मकता नितान्त आवश्यक माना है। उसकी दृष्टि में अनुमान का इतिहास लेखन में कोई स्थान नहीं है और अनुमान व निष्कर्ष का अधिकार केवल पाठक का है। उसका मानना है कि इतिहासकारों को सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति से बचकर रहना चाहिए। रॉके इतिहास और दर्शन शास्त्र की घनिष्टता के भी विरुद्ध है। रॉके तथ्यों को बुद्धि की कसौटी पर परख कर ही उनको इतिहास लेखन के लिए उपयुक्त मानता है। रॉके की दृष्टि में इतिहासकार का यह धर्म है कि वह तथ्यों को उसी रूप में प्रस्तुत करे जैसे कि वो वास्तव में थे। इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम का जनक रॉके प्राथमिक स्रोतों की प्रामाणिकता के बिना उन्हें स्वीकार नहीं करता है। विवेचनात्मक ऐतिहासिक विज्ञान का पथप्रदर्शक रॉके कहता है – 'मैं उस समय की आहट सुन रहा हूँ जब हम आधुनिक इतिहास को विवरणों (भले वो समकालीन भी क्यों न हों) पर आधारित करने के स्थान पर प्रत्यक्ष–दर्शियों के बयानों और प्रामाणिक व मौलिक दस्तावेज़ों के आधार पर लिखेंगे।'

इतिहास के तकनीकी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक काल अपने परवर्ती काल की तुलना में पिछड़ा हुआ होता है। सत्रहवीं शताब्दी में इतिहासकारों का यह विश्वास था कि यह पाश्चात्य सभ्यता की नियति थी कि वह कपोल–कल्पनाओं का विनाश करे, सांस्कृतिक स्मरणों को मिटा दे और इतिहास को अप्रसांगिक

बना दे। परन्तु रॉके इसे स्वीकार नहीं करता है। रॉके का यह मत है कि –'हम सावधानी व साहस के साथ विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ सकते हैं किन्तु ऐसा कोई मार्ग नहीं है जिससे कि हम सामान्य से विशिष्ट की ओर बढ़ सकें।' बावेरिया के भावी शासक मैक्समिलियन द्वितीय के समक्ष अपनी भाषण श्रृंखला में रॉके ने कहा था – 'प्रत्येक युग ईश्वर के निकट है।' इस कथन से उसका तात्पर्य यह था कि इतिहास का प्रत्येक युग विशिष्ट है और उसको उसी के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए और केवल उन सामान्य विचारों की खोज का प्रयास करना चाहिए जिन्होंने कि उस काल को जीवन्त बनाया था। रॉके ने किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को उसी के ऐतिहासिक सन्दर्भ के अन्तर्गत ही समझने का प्रयास किया। ऐतिहासिक तथ्यों (जैसे संस्था, विचार आदि) की प्रकृति को समझने के लिए उनके ऐतिहासिक विकास और कालान्तर में उनमें आए हुए परिवर्तनों को समझना आवश्यक था। रॉके का यह मानना है कि ऐतिहासिक युगों को पूर्व–निर्धारित आधुनिक मूल्यों एवं आदर्शों की कसौटी पर नहीं परखा जाना चाहिए बल्कि आनुभविक साक्ष्यों पर आधारित इतिहास (जैसा कि वास्तव में हुआ था) के परिप्रेक्ष्य में उनका आकलन किया जाना चाहिए।

नीरस और उबाऊ इतिहास लेखन के लिए आलोचना का पात्र होने के बावजूद रॉके ने पवित्र रोमन साम्राज्य के उदाहरण के अनुरूप एक संगठित यूरोप की कल्पना की थी। उसके सभी ग्रंथों में यह कल्पना प्रतिबिम्बित होती है। अपने समकालीन इतिहासकारों की तुलना में रॉके का ऐतिहासिक दृष्टिकोण बहुत हटकर है। वह न तो रोमानी आन्दोलन का अनुकरण करता है, न दैवकृत इतिहास की रचना करता है और न ही सामाजिक डार्विनवाद से सहमत होता है। वह वह बुद्धिवाद व यथार्थवाद की महाद्वीपीय परम्परा का अनुगमन करता है। इतिहासकार के रूप में रॉके ने पूर्व–स्थापित सिद्धान्तों और धारणाओं को नकार कर मूल स्रोतों के श्रम–साध्य उपयोग द्वारा तथ्यों का बिना लिपा–पुता मौलिक स्वरूप प्रस्तुत करता है।

रॉके हीगेल द्वारा प्रतिपादित इतिहास दर्शन की कटु आलोचना करता है। उसका कहना है कि हीगेल ने इतिहास में मानव–क्रिया की भूमिका की उपेक्षा की है। जब कि मानव–क्रिया की उपेक्षा कर केवल विचार और अवधारणा के आधार पर हम प्रामाणिक इतिहास की रचना नहीं कर सकते।

2.4.3 रॉके के इतिहास ग्रंथों के गुण एवं दोष

2.4.3.1 प्राथमिक स्रोतों पर आधारित वस्तुनिष्ठ इतिहास

नेबूर और रॉके का यह विश्वास था कि उन्होंने वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ इतिहास की रचना की है। उनका मत है कि इतिहासकार का यह दायित्व है कि वह प्राथमिक स्रोतों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता का परीक्षण कर उन्हें ज्यों का त्यों प्रस्तुत करे। तथ्यों का वस्तुनिष्ठ पुनर्सर्जन रॉके मत के इतिहास लेखन की विशिष्टता है और इसमें इतिहासकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने काल के मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में भूतकाल की घटनाओं का आकलन नहीं करे।

2.4.3.2 राजनीतिक इतिहास को महत्व

चूंकि रॉके राजनीतिक शक्ति को इतिहास का प्रमुख प्रतिनिधि मानता है, इसलिए उसने अपने इतिहास ग्रंथों में सामाजिक एवं आर्थिक बलों की उपेक्षा कर राजाओं और अन्य राजनीतिक नेताओं के कार्यों को, अर्थात् राजनीतिक इतिहास को सर्वाधिक महत्व दिया है। रॉके पर बीसवीं शताब्दी के इतिहासकारों द्वारा यह आरोप लगाया जाता है कि उसने राजनीतिक इतिहास, विशेषकर महा–शक्तियों के राजनीतिक इतिहास को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है परन्तु अपने लेखन में उसने सांस्कृतिक इतिहास को भी महत्व दिया है। 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड' में उसने महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम के शासन काल के साहित्य पर एक सम्पूर्ण अध्याय लिखा है।

2.4.3.3 राजनीतिक अनुदारता

अपने ग्रंथ – 'दि ओरिजिन्स ऑफ़ दि वार ऑफ़ दि रिवोल्यूशन' में रॉके ने फ्रांसीसी क्रान्ति की भर्त्सना की है और उसको प्रशा के सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं माना है। प्रशा के लिए वह सुदृढ़ राजतन्त्र को ही उपयुक्त मानता था और प्रशा की प्रजा से वह यह अपेक्षा करता था कि वह प्रशियन राज्य के प्रति स्वामिभक्त रहे। रॉके की यह मान्यता है कि शासन के सार्वभौमिक सिद्धान्त निरर्थक ही नहीं अपितु खतरनाक भी हैं। प्रशा के सन्दर्भ में वह सक्षम तथा ईमानदार निरंकुश राजतन्त्र का पक्षधर है।

2.4.3.4 इतिहास में धर्म का स्थान

रॉके इतिहास को धर्म मानता है अथवा धर्म और इतिहास के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध देखता है। वह इतिहास को ईश्वरीय लीला के रूप में देखता है।

2.4.3.5 इतिहास में व्यक्तित्व की भूमिका

रॉके इतिहास में महान विभूतियों की भूमिका को महत्वपूर्ण एवं निर्णायक मानता है।

2.4.3.6 सार्वभौमिक इतिहास

रॉके इतिहास लेखन में व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ता है। वह विभिन्न देशों के इतिहास की विशिष्टताओं को सार्वभौमिक इतिहास की आवश्यक कड़ियां मानकर सार्वभौमिक इतिहास की ओर बढ़ता है।

2.4.3.7 रॉके की इतिहास विषयक अध्ययन–गोष्ठी

रॉके की अध्ययन गोष्ठी की तकनीक ने इतिहास के उन्नत विद्यार्थियों को ऐतिहासिक स्रोतों के आलोचनात्मक अध्ययन की प्रणाली में एक क्रान्ति का सूत्रपात किया।

2.5 इतिहासकार के रूप में रॉके का आकलन

अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों पर रॉके की तकनीक का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। रॉके तथा उसके अनुयायियों – थियोडोर मॉमसे, जॉन गुस्टाव ड्रॉयसेय, फ्रेडरिक विल्हेम शिरमाकर और हेनरिक वॉन ट्रीट्स्के ने समीक्षा एवं ऐतिहासिक प्रणाली के नियम स्थापित किए। जर्मन विचारधारा ने इतिहास

लेखन को एक व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसने इतिहास के औपचारिक शास्त्रीय अध्ययन की स्थापना की। कैरोलिन होफ़री ने रॉके को इसका श्रेय दिया है कि उसने 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप और अमेरिका में इतिहास को एक स्वतन्त्र एवं प्रतिष्ठित विषय के रूप में मान्यता दिलाई। उसने अपनी कक्षाओं में अध्ययन गोष्ठी की प्रणाली प्रारम्भ की और अभिलेखीय शोध एवं ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के विश्लेषण पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की। इतिहास लेखन में पूर्ण तटस्थता का अनुचित दावा करने के बावजूद रॉके आधुनिक युग के महानतम इतिहासकारों में प्रतिष्ठित होने का अधिकारी है। जी0 पी0 गूच के अनुसार समकालीन प्रामाणिक स्रोतों को ऐतिहासिक पुनर्सर्जन के लिए सर्वथा आवश्यक सिद्ध करना, इतिहास लेखन के क्षेत्र में रॉके की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। रॉके प्रथम इतिहाकार था जिसने ऐतिहासिक नायकों के निजी पत्रों को ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में प्रयुक्त किया। रॉके ने इतिहास में वैयक्तिकता और विकास दोनों पर ही महत्व दिया। हर ऐतिहासिक तथ्य, काल और घटना की अपनी वैयक्तिकता होती है और यह इतिहासकारों का काम है कि वह इनके सार को स्थापित करे। इस गुरुतर कार्य के लिए इतिहासकारों को उस विशिष्ट युग में स्वयं को उतारना होगा और उसी समय के मूल्यों के अनुरूप उसका आकलन करना होगा। रॉके शब्दों में – 'इसके लिए इतिहासकारों को अपने निजी व्यक्तित्व की आहुति देनी होगी।' रॉके इतिहास के विज्ञान का सूत्रधार है। रॉके ने किसी समकालीन ग्रंथ का परीक्षण करते समय उसके लेखक के पद, उसके द्वारा अपने ग्रंथ की रचना हेतु स्रोत सामग्री एकत्र करने की उसकी सामर्थ्य, उसकी मानसिकता तथा उसकी निष्ठा का भी आलोचनात्मक परीक्षण किया और साथ ही साथ उसके द्वारा उपलब्ध जानकारी का अन्य समकालीन ग्रंथों में उपलब्ध जानकारी के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया। रॉके ने स्वयं ईसाई होते हुए भी अन्य धर्मावलम्बियों की उपलब्धियों की कभी भी उपेक्षा नहीं की। उसका कहना था – 'मैं पहले इतिहासकार हूँ और बाद में ईसाई हूँ।' रॉके को इसका श्रेय जाता है कि उसने इतिहास लेखन में आत्मपरकता के स्थान पर वस्तुनिष्ठता को महत्व दिया। उसके लेखन में जातीय अथवा धार्मिक पूर्वाग्रहों का कोई स्थान नहीं है। पूर्ण तटस्थता अपनाते हुए और पूर्वाग्रहों को नकारते हुए उसने तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की एक ईमानदार कोशिश की है।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. नेबूर तथा रॉके से पूर्व इतिहास लेखन में मुख्य कमियां।
2. रॉके के महत्वपूर्ण इतिहास–ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय।
3. रॉके के इतिहास ग्रंथों के प्रमुख दोष

2.5 सारांश

मध्यकाल तक इतिहास को साहित्य अथवा दर्शन की एक शाखा ही माना जाता था। बार्टहोल्ड नेबूर ने इतिहास को गौण विषय से एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। नेबूर के बाद रॉके को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने इतिहास में व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रचलित किया। लियोपोल्ड वॉन रॉके ने अपने समकालीन इतिहासकारों की तुलना में विविध ऐतिहासिक स्रोतों का अत्यधिक विस्तृत अध्ययन किया। इनमें संस्मरण, दैनन्दिनी, व्यक्तिगत एवं औपचारिक पत्र, सरकारी दस्तावेज़, कूटनीतिक विज्ञप्ति और प्रत्यक्षदर्शियों का आँखो–देखा वृतान्त सम्मिलित थे। रॉके की रचनाओं में 'कॉन्सिपिरेसी ऑफ़ वेनिस–1618', 'हिस्ट्री ऑफ़ दि पोप्स, देयर चर्च एण्ड देयर स्टेट इन दि सिक्सटीन्थ एण्ड सेवेन्टीन्थ सेन्चुरीज़','जर्मन हिस्ट्री ऐट दि टाइम ऑफ़ दि रिफ़ॉर्मेशन','दि ओटोमन एण्ड दि स्पैनिश एम्पायर्स इन दि सिक्सटींथ एण्ड सेविन्टींथ सेन्चुरीज़', 'हिस्ट्री ऑफ़ फ्रांस', 'हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लैण्ड तथा 'दि जर्मन पॉवर्स एण्ड दि प्रिन्सेज़ लीग' तथा 'यूनीवर्सल हिस्ट्रीः दि ओल्डेस्ट हिस्टोरिकल ग्रुप ऑफ़ नेशन्स एण्ड दि ग्रीक' प्रमुख हैं।

रॉके ने स्रोतों की विश्वसनीयता अर्थात् उनकी निश्चयात्मकता नितान्त आवश्यक माना है। उसकी दृष्टि में अनुमान का इतिहास लेखन में कोई स्थान नहीं है और अनुमान व निष्कर्ष का अधिकार केवल पाठक का है। रॉके का यह मानना है कि ऐतिहासिक युगों को पूर्व–निर्धारित आधुनिक मूल्यों एवं आदर्शों की कसौटी पर नहीं परखा जाना चाहिए बल्कि आनुभविक साक्ष्यों पर आधारित इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उनका आकलन किया जाना चाहिए।

रॉके न तो रोमानी आन्दोलन का अनुकरण करता है, न दैवकृत इतिहास की रचना करता है और न ही सामाजिक डार्विनवाद से सहमत होता है। वह वह बुद्धिवाद व यथार्थवाद की महाद्वीपीय परम्परा का अनुगमन करता है। रॉके हीगेल द्वारा प्रतिपादित इतिहास दर्शन की कटु आलोचना करता है। उसका कहना है कि हीगेल ने इतिहास में मानव–क्रिया की भूमिका की उपेक्षा की है। जब कि मानव–क्रिया की उपेक्षा कर केवल विचार और अवधारणा के आधार पर हम प्रामाणिक इतिहास की रचना नहीं कर सकते।

नेबूर और रॉके का यह मत है कि इतिहासकार का यह दायित्व है कि वह प्राथमिक स्रोतों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता का परीक्षण कर उन्हें ज्यों का त्यों प्रस्तुत करे। चूंकि रॉके राजनीतिक शक्ति को इतिहास का प्रमुख प्रतिनिधि मानता है, इसलिए उसने अपने इतिहास ग्रंथों में सामाजिक एवं आर्थिक बलों की उपेक्षा कर राजाओं और अन्य राजनीतिक नेताओं के कार्यों को, अर्थात् राजनीतिक इतिहास को सर्वाधिक महत्व दिया है। अपने ग्रंथ – 'दि ओरिजिन्स ऑफ़ दि वार ऑफ़ दि रिवोल्यूशन' में रॉके ने फ्रांसीसी क्रान्ति की भर्त्सना की है और उसको प्रशा के सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं माना है। प्रशा के सन्दर्भ में वह सक्षम तथा ईमानदार निरंकुश राजतन्त्र का पक्षधर है।

रॉके इतिहास को ईश्वरीय लीला के रूप में देखता है। रॉके इतिहास में महान विभूतियों की भूमिका को महत्वपूर्ण एवं निर्णायक मानता है। रॉके विभिन्न देशों के इतिहास की विशिष्टताओं को सार्वभौमिक इतिहास की आवश्यक कड़ियां मानकर सार्वभौमिक इतिहास की ओर बढ़ता है। रॉके की अध्ययन गोष्ठी की तकनीक ने इतिहास के उन्नत विद्यार्थियों को ऐतिहासिक स्रोतों के आलोचनात्मक अध्ययन की प्रणाली में एक क्रान्ति का सूत्रपात किया।

अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों पर रॉके की तकनीक का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। जर्मन विचारधारा ने इतिहास लेखन को एक व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसने इतिहास के औपचारिक शास्त्रीय अध्ययन की स्थापना की। इतिहास लेखन में पूर्ण तटस्थता का अनुचित दावा करने के बावजूद रॉके आधुनिक युग के महानतम इतिहासकारों में प्रतिष्ठित होने का अधिकारी है। रॉके ने इतिहास लेखन में आत्मपरकता के स्थान पर वस्तुनिष्ठता को महत्व दिया। उसके लेखन में जातीय अथवा धार्मिक पूर्वाग्रहों का कोई स्थान नहीं है। पूर्ण तटस्थता अपनाते हुए और पूर्वाग्रहों को नकारते हुए उसने तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की एक ईमानदार कोशिश की है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

कॉन्सपिरेसी – षडयन्त्र

रिफ़ॉर्मेशन – धर्म सुधार

रोमानी आन्दोलन – 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक विश्व–व्यापी आन्दोलन जिसमें कि भावना, आत्माभिव्यक्ति एवं व्यक्तिगत विशिष्टता को प्रमुखता दी गई थी।

व्यष्टि से समष्टि – व्यक्तिगतता से विश्व–व्यापकता

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 2.3.1 नेबूर से पूर्व के इतिहास–लेखन के दोष
2. देखिए 2.4.1 रॉके का प्रारम्भिक जीवन तथा उसकी रचनाएं
3. देखिए 2.4.3 रॉके के इतिहास ग्रंथों के गुण एवं दोष

2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

कॉलिंगवुड, आर0 जी0 – *दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री*, लन्दन, 1978

गूच, जी0 पी0 – *दि हिस्ट्री एण्ड दि हिस्टोरियन्स ऑफ़ दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी*, लन्दन, 1913

इगर्स, जॉर्ज, जी0, जेम्स, एम0 पॉवेल – *लियोपोल्ड रॉके एण्ड दि शेपिंग ऑफ़ दि हिस्टॉरिकल डिसिप्लिन*, न्यूयॉर्क, 1990

श्रीधरन, ई0 – *ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी*, नई दिल्ली, 2013

2.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

लियोपोल्ड वॉन रॉके (सम्पादनः रॉजर वाइन्स) – 'दि सीक्रेट ऑफ़ वर्ड हिस्ट्रीः सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑन दि आर्ट एण्ड साइंस ऑफ़ हिस्ट्री', न्यूयॉर्क, 2010
लियोपोल्ड वॉन रॉके (सम्पादनः इगर्स, जॉर्ज, जी0) – 'दि थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ़ हिस्ट्री', न्यूयॉर्क, 2011
कार, ई0 एच0 (अनुवादकः चक्रधर, अशोक) – 'इतिहास क्या है', नई दिल्ली, 1993
थापर, रोमिला (सम्पादक) – 'इतिहास की पुनर्व्याख्या' नई दिल्ली, 1991
बुद्धप्रकाश – 'इतिहास दर्शन' इलाहाबाद, 1962
वर्मा, लालबहादुर – 'इतिहास के बारे में', इलाहाबाद, 2000
शर्मा, रामविलास – 'इतिहास दर्शन', नई दिल्ली, 1995

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

रॉके के इतिहास–दर्शन की समीक्षा कीजिए।

इकाई तीन– इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (मार्क्सवादी सिद्धान्त)

3..1. प्रस्तावना

कार्ल हेनरिख मार्क्स (1818–83) एक जर्मन दार्शनिक, अर्थ–शास्त्री, समाज–शास्त्री, इतिहासकार, पत्रकार तथा क्रान्तिकारी समाजवादी था। मार्क्सवाद ने इतिहास लेखन में एक युगान्तकारी मोड़ ला दिया। भौतिक कारक को इतिहास में निर्धारक कारक के रूप में प्रतिष्ठित करना उसके इतिहास लेखन की वह विशेषता है जो उससे पूर्व के इतिहास लेखन में सर्वथा अनुपस्थित थी। मार्क्स द्वारा इतिहास की दिशा

निर्धारित करने में भौतिकवादी कारक की निर्णायक भूमिका के सिद्धान्त का विकास किए जाने तक दैवी कारक को यह स्थान प्राप्त था। जब कि मार्क्स की दृष्टि में – 'भगवान की अवधारणा मनुष्य की निरी कल्पना थी और इससे भी अधिक वह शोषण व दोहन का एक उपकरण थी जिसको कि शासक वर्ग ने श्रमिक वर्ग को नियन्त्रित करने के एक कुचक्र के अन्तर्गत विकसित किया था।' मार्क्स की दृष्टि में 'पहला ऐतिहासिक कृत्य है – स्वयं भौतिक जीवन का उत्पादन।'

आधुनिक इतिहास लेखन पर इस विचार के क्रान्तिकारी प्रभाव का हम आज सर्वत्र अनुभव कर सकते हैं। आधुनिक युग में मार्क्स की अर्थशास्त्र विषयक रचनाओं ने श्रमिक और पूंजी के पारस्परिक सम्बन्धों की समझ को एक आधार प्रदान किया है और परवर्ती अर्थशास्त्रियों के आर्थिक चिन्तन को अत्यधिक प्रभावित किया है। मार्क्स की कृति 'दास कैपिटल' में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की गई है। मार्क्स के समाज, अर्थशास्त्र तथा राजनीति विषयक सिद्धान्तों के कुल जोड़ को हम 'मार्क्सवाद' के रूप में जानते हैं। मार्क्स ने समाजवाद के सिद्धान्तों और उसके उद्देश्यों, उनकी उत्पत्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता एवं प्राप्ति के तरीकों तथा नए समाजवादी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूंजीवादी समाज का विनाश तथा निकट भविष्य में समाजवादी क्रान्ति की सफलता अवश्यम्भावी है। मार्क्स की कृति 'दास कैपिटल' में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की गई है। मार्क्सवाद में विश्लेषण एवं विवेचना का प्रमुख आधार इतिहास है और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मूल आधार भी इतिहास ही है। इतिहास को मार्क्स ने एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा था किन्तु उसकी इतिहास की अवधारणा का मुख्य आधार आर्थिक जीवन है। आर्थर मार्विक ने मार्क्सवादी इतिहासकारों को इस बात का श्रेय दिया है कि उन्होंने प्रत्येक उपलब्ध स्रोत का सदुपयोग कर एक नयी प्रणाली के अन्तर्गत आम आदमी की इतिहास में फिर से वापसी की है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको कार्ल मार्क्स से पूर्व इतिहास लेखन के दोषों से परिचित कराना तथा समाजवादी विचारधारा के प्रारम्भिक विकास से अवगत कराना है और फिर कार्ल मार्क्स के लेखन तथा परवर्ती मार्क्सवादी इतिहास–चिन्तकों तथा इतिहासकारों के लेखन के माध्यम से इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की, तथा मार्क्सवादी इतिहास लेखन के विभिन्न सोपानों की आपको जानकारी देना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

- कार्लमार्क्स से पूर्व इतिहास लेखन के दोष।
- कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव।
- समाजवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि।
- कार्ल मार्क्स की समाजवादी विचारधारा एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा

- मार्क्सवादी इतिहासकारों का इतिहास लेखन में योगदान

3.3. कार्ल मार्क्स से पूर्व के इतिहास लेखन में व्याप्त प्रमुख दोष

3.3.1 इतिहास में ईश्वरीय इच्छा की महत्ता

प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास लेखन में ऐतिहासिक घटनाओं को उनके अन्तिम परिणाम तक पहुंचाने में ईश्वरीय इच्छा को अत्यधिक महत्व दिया गया है। प्राचीन भारतीय इतिहासकारों, ईसाई इतिहासकारों तथा मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने 'ईश्वरीय इच्छा', 'दि विल ऑफ़ गॉड' अथवा 'खुदा की मर्ज़ी' को इतिहास में निर्णायक माना है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यह विचारधारा क्षीण नहीं हुई थी। इतिहासकारों द्वारा स्पेन के पतन, अमेरिका की स्वतन्त्रता, फ़्रांसीसी क्रान्ति तथा नैपोलियन के पतन में भी ईश्वरीय इच्छा को आरोपित करने का प्रयास किया गया था। इस विचारधारा ने इतिहास लेखन में विभिन्न प्रकार के तथ्यों को एक ही रंग में रंगने के प्रयास को प्रोत्साहित किया।

3.3.2 धार्मिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को अनावश्यक महत्व

कार्ल मार्क्स से पूर्व इतिहासकारों ने पोप, चर्च, धर्म–ग्रंथों, धर्म–विजयों, मठों, दरगाहों, मठाधीशों, सम्राटों, बादशाहों, सुल्तानों, शासक वर्ग से जुड़े हुए व्यक्तियों, युद्धों, सन्धियों, षडयन्त्रों, दरबारों और शासक वर्ग से जुड़े साहित्य व कलाओं को अपनी रचनाओं में महत्व दिया था। आम आदमी – किसानों, मज़दूरों, गुलामों आदि का उल्लेख करना उनके लिए अनावश्यक था। यद्यपि सांस्कृतिक इतिहास के किंचित पहलुओं पर इन इतिहासकारों की दृष्टि गई थी किन्तु उनके लिए सामान्यतः सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास का नाम मात्र का महत्व था।

3.4 कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव

3.4.1 कार्ल मार्क्स से पूर्व निजी सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन विषयक विचार

पुनर्जागरण काल के ब्रिटिश विचारक टॉमस मूर ने अपने ग्रंथ – 'यूटोपिया' (1516) में सामूहिक स्वामित्व पर आधारित समाज की परिकल्पना की है। 17 वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में 'डिगर्स' नामक शुद्धाचारवादी धार्मिक दल ने भूमि विषयक निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त किए जाने की मांग की थी। 18 वीं शताब्दी के प्रबोधन युग में भी फ़्रांसीसी विचारक जीन जैकस रूसो ने निजी सम्पत्ति के विचार की आलोचना की थी। टॉमस पेन की 1791 में प्रकाशित पुस्तक – 'राइट्स ऑफ़ मैन' में भूमि के समाजीकरण, जागीरदारों की मृत्यु पर भारी मृत्यु–कर की व्यवस्था की वकालत की गई। स्पैंस तथा ओगिल्वी ने भी भूमि पर समाज के अधिकार की हिमायत की। विलियम गोडविन ने निजी सम्पत्ति को समाप्त किए जाने की संस्तुति की। समाजवादी विचारधारा के जनक, अठारहवीं शताब्दी के फ़्रासीसी

विचारक बैब्यूफ़ ने सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण, सामाजिक समानता एवं सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन का प्रबल समर्थन किया था।

3.4.2 मार्क्स से पूर्व के विचारकों की समाजवादी भावना

सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विकसित नई आर्थिक व्यवस्था और उससे उत्पन्न सामाजिक शोषण की आलोचना का प्रारम्भ हुआ। टॉमस पेन की 1791 में प्रकाशित पुस्तक – 'राइट्स ऑफ़ मैन' में श्रमिकों को पेंशन व महिला–श्रमिकों को प्रसव–काल अवकाश दिए जाने की वकालत की। स्विस इतिहासकार सिसमोंडी ने 1818 में एडम स्मिथ की मुक्त–व्यापार की नीति और उसके द्वारा आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा अहस्तक्षेप की नीति अपनाए जाने की वकालत करने पर भर्त्सना की। उसने पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों के निर्बाध शोषण की भी निन्दा की और उनकी मज़दूरी बढ़ाए जाने की ज़ोरदार हिमायत की। मैनचेस्टर के उद्योगपति रॉबर्ट ओवन ने अपने निजी कारखाने में वेतन में वृद्धि कर, उनके काम के घण्टों में कमी कर तथा उनके लिए साफ़–सुथरे मकान व आमोद–प्रमोद के साधन उपलब्ध कर मज़दूरों की दशा सुधारने के प्रयास किए। अपनी पुस्तकों – 'दि न्यू व्यू ऑफ़ सोसायटी' तथा 'दि बुक ऑफ़ न्यू मॉरल वर्ड' में रॉबर्ट ओवन ने मज़दूरों की सहकारी समितियों के गठन तथा कारखानों में मज़दूरों को हिस्सेदारी दिए जाने की संस्तुति की तथा पहली बार 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किया। रॉबर्ट ओवन के प्रयासों के साथ–साथ ब्रिटिश व्यापार एवं उद्योग में अभूपूर्व विकास के कारण इंग्लैण्ड में 1819 में मज़दूरों के कल्याण हेतु 'फ़ैक्ट्री एक्ट' पारित किया गया। फ़्रांस के मानवतावादी एवं आशावादी विचारक सेन्ट साइमन ने अपने ग्रंथ – 'दि न्यू क्रिश्चियैनिटी'(1825) में श्रमिकों के कल्याण तथा निजी सम्पत्ति विषयक कानूनों में सुधार की मांग रखी। फ़्रांस के ही एक अन्य विचारक चार्ल्स फूरिए ने पूंजीवादी समाज की शोषक प्रवृत्तियों को उजागर कियाऔर श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए सहकारी समुदायों को संगठित करने की योजना प्रस्तुत की। फ़्रांस के लुई ब्लां को राज्य–समाजवाद के उदय का श्रेय दिया जाता है। उसने आर्थिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का विरोध किया और राज्य में श्रमिक के 'काम के अधिकार' और उस अधिकार की प्राप्ति के लिए 'राष्ट्रीय कारखानों' अथवा सामाजिक कार्यशालाओं की स्थापना करके स्वार्थी प्रतियोगी पूंजीवाद की बुराइयों को समाप्त करने की एक ईमानदार कोशिश की। उसके ग्रंथ – 'ऑर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ लेबर' (1839) में तत्कालीन फ़्रांस का समाजवादी आन्दोलन प्रतिबिम्बित होता है।

3.4.3 समाजवादी आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण

जर्मनी में 1830 की क्रान्ति के बाद ब्यूख्नर ने 'मनुष्य का अधिकार' नामक एक गुप्त समिति का गठन किया था। इस समिति का यह विश्वास था कि राजनीतिक क्रान्ति के साथ सामाजिक क्रान्ति का होना भी आवश्यक है। इस समिति के घोषणापत्र का एक वाक्य उसके लक्ष्य को व्यक्त करता है – 'झोंपड़ियों में सुख–शान्ति हो और राजप्रसादों का नाश हो।' जर्मनी में समाजवादी आन्दोलन का सूत्रपात

फ़र्डिनैन्ड लसैल ने किया था। उसने लिप्ज़िंग में 1863 में 'जनरल एसोसियेशन ऑफ़ वर्कर्स' की स्थापना की। लसैल का यह मत था कि – 'राज्य का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों का अधिकतम कल्याण व हित करे। लसैल ने समाजवादी आन्दोलन को सफल बनाने में मध्यवर्गीय उदारवादी दलों के योगदान की तुलना में स्वयं श्रमिकों की भूमिका को अधिक महत्व दिया था। पेरिस में कार्यरत जर्मन मज़दूरों ने 1836 में 'लीग ऑफ़ दि जस्ट' की स्थापना की और बाद में इसकी शाखाएं जर्मनी, इंग्लैण्ड और बेलजियम में भी स्थापित हुईं। कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एन्गेल्स इसके सदस्य थे। 1847 में इसका नाम बदलकर 'कम्युनिस्ट लीग' रख दिया गया। 'कम्युनिस्ट लीग' के घोषणापत्र के प्रमुख उद्देश्य थे –

'पूंजीवर्ग का जड़ से विनाश, मज़दूर वर्ग का शासन, वर्गभेद पर आधारित मध्य–वर्गीय पुरातन समाज का उन्मूलन और ऐसे एक नए समाज की स्थापना जिसमें न कोई वर्ग हो और न ही निजी सम्पत्ति विषयक अधिकार।'

इंग्लैण्ड में 1846 में स्थापित संस्था 'सोसायटी ऑफ़ फ़ेटर्नल डेमोक्रेट्स' के एक सदस्य ने शोषितों की अन्तर्राष्ट्रीय एकजुटता की आवश्यकता पर बल देते हुए उनसे यह अपील की थी –मैं हर देश के उत्पीड़ित वर्गों से यह अपील करता हूँ कि वे समान उद्देश्य के लिए एकजुट हो जाएं।'

1848–49 में यूरोपीय क्रान्तियों की असफलता, क्रीमिया के युद्ध (1854–56) में रूस की पराजय, पीडमॉन्ट राज्य के नेतृत्व में द्वितीय इटालियन स्वतन्त्रता संग्राम (1859–60) में राष्ट्रवादियों की सफलता, 1861 में जार एलेक्ज़ेण्डर द्वितीय द्वारा रूस में कृषि दासों की विमुक्ति और 1863 में पोलैण्ड में हुए विद्रोह जैसी घटनाओं ने समाजवादियों को पुन– सक्रिय होने की प्रेरणा दी।

समाजवादी आन्दोलन का ध्येय पूंजीवाद को समाप्त करना था और श्रम–आन्दोलन का लक्ष्य पूंजीपतियों के साथ संघर्ष करना या ऐसा सौदा करना था जिससे कि श्रमिक वर्ग की जीवन–पद्धति और कार्य–स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन हो सके। श्रमिकों की शोचनीय दशा से आहत होकर और मानवतावादी भावना से प्रेरित होकर अनेक बुद्धिजीवियों ने शोषित एवं दलित वर्ग की स्थिति में सुधार लाने के सार्थक प्रयास किए। इसके अतिरिक्त पीड़ित श्रमिक वर्ग ने स्वयं भी अपनी समस्याओं का निराकरण करने के लिए श्रमिक संगठनों का गठन प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने समाज के बहु–संख्यक सर्वहारा वर्ग के हित में आय के समान वितरण की व्यवस्था का समर्थन किया। समाजवादियों ने फ़्रासीसी क्रान्ति से अर्जित नागरिक एवं कानूनी समानता से आगे बढ़कर सामाजिक एवं आर्थिक समानता की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया।

3.5 कार्ल मार्क्स के समाजवाद विषयक विचार और समाजवादी आन्दोलन में उसकी सक्रिय भूमिका

3.5.1 कार्ल मार्क्स के समाजवाद विषयक विचार

कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर फ्रांसीसी समाजवादी विचारकों – सेंट साइमन, चार्ल्स फूरिए, लुई ब्लां तथा ब्रिटिश समाजवादी विचारक राबर्ट ओवेन के चिन्तन का भी प्रभाव पड़ा था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुई औद्योगिक क्रान्ति ने समस्त विश्व के और विशेषकर पाश्चात्य समाज और अर्थ–व्यवस्था के स्वरूप में आमूल परिवर्तन कर दिया था। औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में पूंजीपति एवं मज़दूर वर्ग को जन्म दिया। आर्थिक विषमता बढ़ने के साथ–साथ पूंजीपति वर्ग द्वारा मज़दूर वर्ग का अनवरत शोषण होने लगा। मार्क्स

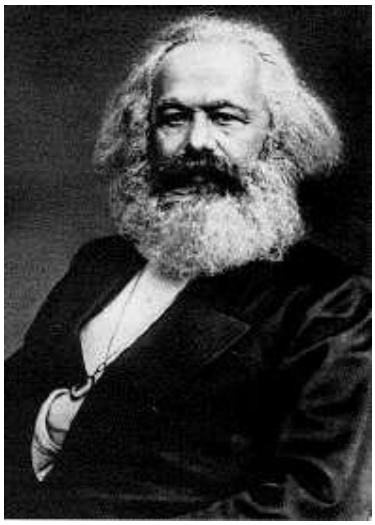

कार्ल मार्क्स

की विचारधारा पर इस बदली हुई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का भी गहन प्रभाव पड़ा था। मार्क्स अपने पूर्ववर्ती जर्मन दार्शनिक हीगेल के द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद से प्रभावित था जिसने कि यह प्रतिपादित किया था कि समाज का विकास संघर्ष के माध्यम से ही होता है।

3.5.2 प्रथम इण्टरनेशनल

समाजवादी आन्दोलन के इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना ब्रिटिश, फ्रांसीसी, बेलजियन तथा स्विस मज़दूर संगठनों को एकजुट करके 1864 में स्थापित 'प्रथम इण्टरनेशनल' की स्थापना थी जो कि कार्ल मार्क्स की देन थी। 'प्रथम इण्टरनेशनल' में मार्क्स ने मज़दूरों की ओर से दिए गए अपने भाषण में इस समिति के सिद्धान्तों और लक्ष्यों की रूपरेखा प्रस्तुत की। मार्क्स ने मज़दूर वर्गों का आवाहन किया कि वो अपनी मुक्ति की लड़ाई स्वयं लड़ें। मज़दूर वर्ग के संघर्ष में विश्व–व्यापी चरित्र पर बल दिया गया। इस इण्टरनेशनल का लक्ष्य – 'शासक वर्ग का सम्पूर्ण उन्मूलन' घोषित किया गया। प्रथम इण्टरनेशनल को उसकी स्थापना के समय से ही तत्कालीन सरकारों ने अपने लिए एक खतरा माना और उसके दमन के अनेक प्रयास किए गए। अनेक देशों में उसे अवैध घोषित कर दिया गया। इसने अपने अल्पकालीन जीवन (1864 से 1875) के दौरान यूरोप और उत्तरी अमेरिका के मज़दूर आन्दोलनों पर गहरा प्रभाव डाला।

कार्ल मार्क्स की मृत्यु 1883 में हो गई थी किन्तु 1889 में आयोजित 'द्वितीय इण्टरनेशनल' उसी के प्रयासों की अगली कड़ी थी। विभिन्न देशों के समाजवादी दलों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के तहत सूत्रबद्ध करने के लिए 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति की शताब्दी के दिन 14 जुलाई, 1889 को पेरिस में 20 देशों के 400 प्रतिनिधियों द्वारा 'द्वितीय इण्टरनेशनल' की स्थापना की गई जिसमें सैन्यवाद और युद्ध को पूंजीवाद की उपज माना गया पर साथ ही साथ पूंजीवाद का विनाश कर समाजवाद की स्थापना के लिए सशस्त्र क्रान्ति को अपरिहार्य माना गया।

3.5.3 कार्ल मार्क्स की रचनाएं

कार्ल मार्क्स की अनेक रचनाओं में हम 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो (सह–लेखक–फ्रेडरिक एन्गेल्स), 'दास कैपिटल' तथा 'दि जर्मन आइडियोलोजी' को उसकी प्रमुख रचनाएं कह सकते हैं। 'दास कैपिटल' के प्रथम खण्ड का सर्वप्रथम प्रकाशन 1867 में हुआ। मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त उसके द्वारा छोड़ी गई पाण्डुलिपियों के आधार पर एन्गेल्स ने उसके शेष दो खण्डों का प्रकाशन करवाया। इनके अतिरिक्त उसने 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ए क्रिटीक ऑफ़ हीगेलियन फ़िलॉसॅफ़ी ऑफ़ राइट्स' (1843) 'पॉवर्टी ऑफ़ फ़िलॉसॅफ़ी– ए क्रिटीक ऑफ़ प्राउडहॉन'(1847),'डिस्कोर्स अपॉन दि क्वेश्चन ऑफ़ फ्री एक्सचेन्ज' (1848) 'क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस–1848–50 (1850), 'होली फ़ैमिली', 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॅमी' (1859), 'वैल्यू, प्राइस एण्ड प्रॉफ़िट', 'होली फ़ैमिली' आदि की भी रचना की है। एक पत्रकार के रूप में मार्क्स ने 'न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून', 'दि स्पेक्टेटर' में विचारोत्तेजक लेख लिखे तथा 'एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना' में भी उसके अनेक लेख सम्मिलित किए गए हैं।

3.6 वर्ग–संघर्ष और इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या

3.6.1 वर्ग–संघर्ष

प्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक बर्टेण्ड रसेल अपनी पुस्तक 'प्रपोज़्ड रोड ट् फ्रीडम' में लिखता है – 'समाजवाद उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शन का एक प्रेरक बल था जिसने कि मानव जाति को एक श्रेष्ठतर व्यवस्था देने के लिए कल्पनाशीलता के साथ ठोस रूप से व्यावहारिक प्रयास किया था।'

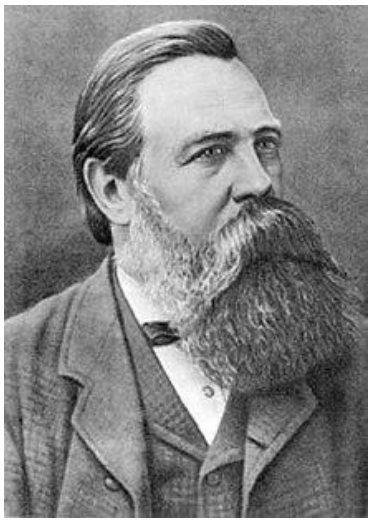
फ्रेडरिक एन्गेल्स

मार्क्स ने समाजवाद के सिद्धान्तों और उसके उद्देश्यों, उनकी उत्पत्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता एवं प्राप्ति के तरीकों तथा नए समाजवादी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूंजीवादी समाज का विनाश तथा निकट भविष्य में समाजवादी क्रान्ति की सफलता अवश्यम्भावी है। मार्क्स इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट करता है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्राचीन समाज का आधार 'दासता', सामन्तवादी समाज का आधार 'भूमि' तथा मध्यवर्गीय समाज का आधार 'पूंजी' है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मार्क्स ने हमको बताया है कि – समाज का इतिहास आर्थिक कारकों से निर्धारित होता है और यह कि – इतिहास वर्ग–संघर्ष का अभिलेख है। इस प्रकार मार्क्स की समाजशास्त्रीय प्रणाली के दो आधार स्तम्भ हैं – इतिहास का भौतिकवादी विचार और वर्ग–संघर्ष।

समाजवादी विचारधारा को हम असह्य एवं दमनकारी शोषण के खिलाफ़ उठा हुआ विद्रोह का स्वर कह सकते हैं। समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन जनता के हाथ में होता है और मनुष्य का मनुष्य के द्वारा

शोषण, सामाजिक उत्पीड़न, विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यकों की सत्ता, गरीबी और लाखों–करोड़ों लोगों की निरक्षरता का हमेशा–हमेशा के लिए उन्मूलन कर दिया जाता है। समाजवाद में वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति बेरोज़गारी बढ़ाने के स्थान पर जन–जन की खुशहाली और समृद्धि में वृद्धि लाती है।

मार्क्स अपने सृजनात्मक मानववाद की स्थापना में यह स्पष्ट करता है कि इतिहास मनुष्य की एक कृति है और इतिहास का लक्ष्य भी मनुष्य ही है। वह कहता है – 'इतिहास वर्ग संघर्ष का अभिलेख है।' 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो' में बताया गया है कि विश्व के समस्त मज़दूरों का लक्ष्य पूंजीवाद को उखाड़ फेंकना और समाजवाद की स्थापना करना है। इस घोषणापत्र का यह आह्वान अमर है – 'संसार के मज़दूरो एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नहीं है, सिवाय अपनी गुलामी की ज़न्जीरों के, और प्राप्त करने के लिए तुम्हारे सामने संसार पड़ा है।'

3.6.2 ऐतिहासिक भौतिकतावाद

मार्क्सवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकतावादी लेखन, इतिहास लेखन की वह शाखा है जो मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्त –'ऐतिहासिक परिणामों को निर्धारित करने में सामाजिक वर्ग व आर्थिक दबावों की निर्णायक भूमिका' में विश्वास रखती है। मार्क्सवादी इतिहास लेखन ने श्रमिक वर्ग को हर स्थान पर केन्द्र–बिन्दु बनाने की प्रवृत्ति, दमित राष्ट्रीयताओं की महत्ता और आम आदमी के इतिहास (हिस्ट्री फ्रॉम बिलो) के अध्ययन के प्रणालीतन्त्र के सिद्धान्तों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मार्क्सवादी इतिहास लेखन की प्रमुख समस्या इतिहास की प्रकृति को लेकर बहस पर है और वह बहस यह है कि – 'क्या इतिहास नियतिवाद से संचालित होता है अथवा उसकी प्रकृति द्वन्द्वात्मक है।' मार्क्सवादी इतिहास सामान्यतः नियतिवादी है क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि इतिहास एक निश्चित अन्त की ओर बढ़ता है और वह अन्त है – 'एक वर्गहीन मानव–समाज' की स्थापना।

मार्क्सवादी इतिहास लेखन का मुख्य उद्देश्य ऐतिहासिक दृष्टान्तों के माध्यम से दलित एवं शोषित वर्ग में आत्म–चेतना का संचार कर उन्हें अपने अधिकारों के लिए स्वयं संघर्ष करने के लिए प्रेरित करना है।

कार्ल मार्क्स के पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने शासकों एवं राष्ट्रों के उत्थान एवं पतन की चक्रीय घटनाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया था। फ्रेडरिक एन्गेल्स ने अपने ग्रंथ –'दि पीज़ेन्ट वार इन जर्मनी' में प्रारम्भिक प्रोटैस्टैन्ट जर्मनी में उभरते हुए पूंजीवादी वर्ग के सन्दर्भ में सामाजिक संघर्ष का विश्लेषण किया था। इसने 'हिस्ट्री फ्रॉम बिलो' (आम आदमी का इतिहास) की अवधारणा, वर्ग–विश्लेषण तथा द्वन्द्वात्मक विश्लेषण में इतिहासकार की अभिरुचि की ओर संकेत किया। मार्क्स ने इतिहास की सोद्देश्यवादी व्याख्या करते हुए कहा है कि – 'हर वस्तु एक निश्चित अन्त की ओर गतिमान होती है और वह अन्त है एक वर्गहीन मानव–समाज।'

मार्क्स की अवधारणा है कि आर्थिक परिस्थितियों तथा उत्पादन की विधियों ने अपने–अपने समय की सामाजिक संरचना को निर्धारित किया है। उसकी दृष्टि में पाश्चात्य यूरोप में एक–एक करके पाँच अवस्थाएं आईं जिनमें कि उसकी भौतिक परिस्थितियों का विकास हुआ है।

इनमें पहली अवस्था थी – आदिम साम्यवाद, जहां कि सम्पत्ति का सभी के मध्य बटवारा किया जाता था और तब नेता की अवधारणा अस्तित्व में ही नहीं थी।

दूसरी अवस्था में पहली अवस्था का विकास दास तथा दास–स्वामी समाज में हुआ जहां कि वर्ग का विचार तथा राज्य की अवधारणा का विकास हुआ।

तीसरी अवस्था सामन्तवाद के उदय की है जिसमें कि आभिजात्य वर्ग ने धर्मतन्त्र के साथ मिलकर निम्न वर्ग का दोहन किया। यह युग भू–स्वामियों तथा कृषि–दासों का था और इसी काल में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ।

चौथी अवस्था में मध्यवर्गीय क्रान्ति के बाद पूंजीवादी युग के पदार्पण की है जब कि पूंजीपतियों ने (अथवा उनके पूर्ववर्ती व्यापारियों ने) सामन्ती व्यवस्था को उखाड़ फेंका और निजी सम्पत्ति व संसदीय लोकतन्त्र के साथ–साथ एक बाज़ारी–अर्थव्यवस्था की स्थापना की। यह युग स्वामी और श्रमिक का है।

मार्क्स आने वाले समय में अन्तिम पाँचवी अवस्था के विषय में भविष्यवाणी करता है कि इसमें सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति का सूत्रपात होगा जिसका परिणाम समाजवाद की प्राप्ति और अन्ततः साम्यवाद की स्थापना होगा। इस अवस्था में किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर किसी एक का नहीं अपितु समुदाय का स्वामित्व होगा।

मार्क्सवाद में विश्लेषण एवं विवेचना का प्रमुख आधार इतिहास है और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों मूल आधार भी इतिहास ही है। इतिहास को मार्क्स ने एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा था किन्तु उसकी इतिहास की अवधारणा का मुख्य आधार आर्थिक जीवन है।

ऐतिहासिक (द्वन्द्वात्मक) भौतिकवाद वह प्रणालीतन्त्रीय दृष्टिकोण है जो कि समाज, अर्थशास्त्र तथा इतिहास का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया था। यह सामाजिक–आर्थिक विकास का वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन (तकनीक तथा उत्पादक क्षमता में) का समाज व अर्थ–व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव'समाज में विकास और परिवर्तन के कारणों का अध्ययन करता है। यह विकास और परिवर्तन जीवन की आवश्यक वस्तुओं के सामूहिक उत्पादन, सामाजिक वर्गों तथा उनके बीच सम्बन्धों, राजनीतिक संरचनाओं तथा समाज में चिन्तन–प्रणालियों के माध्यम से देखा जा सकता है।

1948 में 'लाइफ़ मैगज़ीन' में ह्यूबर्ट के ने मानव–इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या का सार इन शब्दों में दिया है – 'मानव इतिहास एक नदी के समान है। यदि हम इसे ऊपर से देखें तो हमको हर दिन यह एक जैसी दिखाई देगी परन्तु वास्तव में यह तटों को तोड़ती हुई, जल–मार्ग को चौड़ा और गहरा करती हुई निरन्तर बहती रहती है और परिवर्तित होती रहती है। इसमें किसी एक दिन जो पानी दिखाई देता है वह दूसरे दिन ठीक वैसा कभी भी नहीं होता। इसमें से कुछ जल भाप बनकर निरन्तर उडता रहता है और फिर वही बारिश के रूप में वापस लौटता है। अगर हम साल दर साल देखें तो इस नदी में होने वाले परिवर्तन हमको शायद ही दिखाई पड़ेंगे किन्तु एक दिन जब इसके तट बिल्कुल कमज़ोर पड़ जाएंगे और दीर्घ काल तक तेज़ बारिश होगी तो इसमें बाढ़ आएगी, यह अपने तटों को तोड़ देगी और सम्भवतः यह एक नया मार्ग चुन लेगी। नदी का यह जीवन मार्क्स के प्रसिद्ध द्वन्द्वात्मक (ऐतिहासिक) भौतिकवाद का प्रतिनिधित्व करता है।'

3.6.3 मार्क्सवादी इतिहासकार

कार्ल मार्क्स के समकालीन हेनरी मार्गन ने 'एंशियेन्ट सोसायटी' में आदिम समाज की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत कर, मार्क्सवादी इतिहास लेखन का प्रारम्भ कर दिया था।

व्लादीमिर लेनिन की पुस्तक 'व्हाट इज़ टु बी डन' (1902) ने पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने के लिए एक आमूल क्रान्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया था। लेनिन ने 'एप्रिल थीसिस' में बोल्शेविक दल की योजना प्रस्तुत की थी। इसमें लेनिन ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि समाजवादी क्रान्ति को हम सोवियतों (पंचायतों)द्वारा अनन्तिम संसदीय सरकार से सत्ता छीन कर समस्त देश में ऊपर से नीचे तक – 'श्रमिकों, खेतिहर मज़दूरों और किसानों के प्रतिनिधियों से बने गणतन्त्र की स्थापना करके हासिल कर सकते हैं।'

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश इतिहाकार आर0 एच0 टानी की रचनाओं – 'दि एग्रेरियन प्रॉबलम इन दि सिक्सटींथ सेन्चुरी (1912) तथा 'रिलीजन एण्ड दि राइज़ ऑफ़ कैपिटलिज़्म' (1926) में आर्थिक इतिहास में उसकी नीतिपरक अभिरुचि एवं तल्लीनता प्रतिबिम्बित होती है।

क्रिस्टोफ़र हिल की रचनाओं – 'इकॉनॅमिक प्रॉबलम्स ऑफ़ दि चर्च' (1956), 'प्योरिटैनिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन' (1958), 'इन्टैलैक्चुअल ओरिजिन्स ऑफ़ दि इंग्लिश रिवोल्यूशन' (1965) तथा 'दि वर्ड टर्न्ड अपसाइड डाउन' (1972) में इतिहास के विकास में आर्थिक कारकों की महत्ता दर्शाई गई है।

ई0 एच0 हॉब्सबॉम की पुस्तक 'लेबरिंग मैन' (1964), श्रमिक वर्ग का विश्लेषणात्मक इतिहास है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के ब्रिटिश इतिहासकार ई0 पी0 टॉमसन ने 'दि मेकिंग ऑफ़ दि इंग्लिश वर्किंगं क्लास' (1963) में आम आदमी का इतिहास लिखकर अनेक परवर्ती इतिहासकारों के लिए पथप्रदर्शक की भूमिका निभाई है। वर्ग–चेतना, वर्ग–संघर्ष और वर्ग–निर्माण पर टॉमसन का लेखन विचारोत्तेजक एक चुनौती भरा है। टॉमसन ने क्रिस्टोफ़र हिल, एरिक हॉब्सबॉम, रॉडनी हिल्टन आदि के साथ मिलकर 'मार्क्सिस्ट हिस्टोरिकल ग्रुप' की स्थापना की जिसने आगे चलकर 'पास्ट एण्ड प्रज़ेण्ट' जैसी पत्रिका का प्रकाशन किया।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार ई0 एच0 कार ने 'व्हाट इज़ हिस्ट्री' (1961) में यह दर्शाया है हर इतिहासकार तथ्यों का आकलन और उनकी व्याख्या अपने–अपने समय और परिस्थितियों के अनुरूप ही करता है। कार की दृष्टि में वस्तुनिष्ठ इतिहास की रचना असम्भव है क्योंकि इतिहासकार इतिहास को वैसा ही रूप देता है जैसा कि वह चाहता है।

भारत में मार्क्सवादी इतिहास लेखन की परम्परा के प्रारम्भिक प्रयासों में बी0 एन0 दत्त की दो पुस्तकों – 'डायलेक्टिक्स ऑफ़ लैण्ड ओनरशिप इन इण्डिया' तथा 'कास्ट एण्ड क्लास इन एंशियेन्ट इण्डिया' का उल्लेख किया जा सकता है। डी0 डी0 कोसाम्बी ने पुरातत्वशास्त्र, भौतिक वस्तुओं, प्राचीन व्यापार मार्गों के क्षेत्रीय सर्वेक्षणों, मानव जाति के वर्णन तथा गणित की सहायता से भारतीय इतिहास के अध्ययन में मार्क्सवादी प्रणाली का उपयोग किया। उनकी पुस्तकों में – 'एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' (1956) तथा 'कल्चर एण्ड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ एंशियेन्ट इण्डिया' (1964) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। प्राचीन भारत के इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने में आर0 एस0 शर्मा का विशेष योगदान है। शर्मा की पुस्तकों में 'इण्डियन फ्यूडलिज़्म' (1965), 'लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकॉनॅमी' (1966), तथा 'शूद्राज़ इन एंशियेन्ट इण्डिया' (1980) उल्लेखनीय हैं। रोमिला थापर की 'अशोक एण्ड दि डिक्लाइन ऑफ़ दि मौर्याज़' (1963), 'एंशियेन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री' (1978) आदि प्राचीन भारतीय इतिहास की प्रमुख मार्क्सवादी पुस्तकें हैं।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में इरफ़ान हबीब की पुस्तक 'एग्रेरियन सिस्टम ऑफ़ मुगल इण्डिया' ने व्यक्तित्व प्रधान इतिहास की परम्परा को तोड़कर आम आदमी की आर्थिक समस्याओं और गतिविधियों को महत्व दिया है। अपने ग्रंथ 'इण्टरप्रेटिंग इण्डियन हिस्ट्री' में वह इतिहास लेखन में घटनाओं के वृतान्त से अधिक उनकी व्याख्या की महत्ता पर प्रकाश डालता है। इरफ़ान हबीब की रचनाओं में आम आदमी को, विशेषकर किसान को और उसके गाँव को, उसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक में परिवेश में समझने का प्रयास किया गया है। नूरुल हसन, हरबंस मुखिया, बी0 एल0 ग्रोवर आदि ने मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है।

आधुनिक भारत के इतिहास का मार्क्सवादी दृष्टिकोण हमको रजनी पाम दत्त की 'इण्डिया टु डे', एम0 एन0 राय की 'पॉवर्टी ऑर प्लेन्टी' तथा 'गांधिज़्म, नेशनलिज़्म, सोशलिज़्म' , ए0 आर0 देसाई की – 'सोशल बैकग्राण्ड ऑफ़ इण्डियन नेशनलिज़्म' तथा 'पीज़ेन्ट स्ट्रगल्स इन इण्डिया', बिपन चन्द्रा की 'राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑफ़ इकॉनॅमिक नेशनलिज़्म इन इण्डिया', तथा सुमीत सरकार की 'स्वदेशी मूवमेन्ट इन बैंगाल', के0 एम0 पनिकर की – 'अगेन्स्ट लॉर्ड एण्ड स्टेट' (1989) तथा 'कोलोनियलिज़्म, कल्चर एण्ड रेज़िस्टेन्स' आदि रचनाओं में मिलता है।

ग्रैम्सकी, ई0 पी0 टॉमसन तथा एरिक हॉब्सबाम जैसे ब्रिटिश सामाजिक इतिहासकारों से प्रभावित होकर रंजीत गुहा और उनके साथियों ने इतिहास तथा मानव–विज्ञान का संयोजन कर उत्तर–औपनिवेशिककालीन भारत के इतिहास लेखन को एक नयी दिशा प्रदान की। इस विचारधारा के इतिहासकारों ने आम आदमी (विशेषकर, नीचे के तबके के लोग, जैसे आदिवासी, पर्वत–वासी, औद्योगिक मज़दूर, खेतिहर मज़दूर आदि) की भूमिका के दृष्टिकोण से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विवेचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है। आधुनिक इतिहास लेखन पर कार्ल मार्क्स द्वारा इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के क्रान्तिकारी प्रभाव का हम आज सर्वत्र अनुभव कर सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. कार्ल मार्क्स से पूर्व निजी सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन विषयक विचार।
2. कार्ल मार्क्स की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय।
3. प्रथम इण्टर नेशनल।

3.7 सारांश

कार्ल मार्क्स एक जर्मन दार्शनिक, अर्थ–शास्त्री, समाज–शास्त्री, इतिहासकार, पत्रकार तथा क्रान्तिकारी समाजवादी था। भौतिक कारक को इतिहास में निर्धारक कारक के रूप में प्रतिष्ठित करना उसके इतिहास लेखन की वह विशेषता है जो उससे पूर्व के इतिहास लेखन में सर्वथा अनुपस्थित थी। आधुनिक युग में मार्क्स की अर्थशास्त्र विषयक रचनाओं ने श्रमिक और पूंजी के पारस्परिक सम्बन्धों की समझ को एक आधार प्रदान किया है और परवर्ती अर्थशास्त्रियों के आर्थिक चिन्तन को अत्यधिक प्रभावित किया है। मार्क्स की कृति 'दास कैपिटल' में इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की गई है। 'कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो (सह–लेखक–फ्रेडरिक एन्गेल्स), तथा 'दि जर्मन आइडियोलोजी' उसकी अन्य प्रमुख रचनाएं हैं। मार्क्स के समाज, अर्थशास्त्र तथा राजनीति विषयक सिद्धान्तों के कुल जोड़ को हम 'मार्क्सवाद' के रूप में जानते हैं। मार्क्स ने समाजवाद के सिद्धान्तों और उसके उद्देश्यों, उनकी उत्पत्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता एवं प्राप्ति के तरीकों तथा नए समाजवादी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। ऐतिहासिक तथ्यों के

आधार पर उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पूंजीवादी समाज का विनाश तथा निकट भविष्य में समाजवादी क्रान्ति की सफलता अवश्यम्भावी है। मार्क्सवाद में विश्लेषण एवं विवेचना का प्रमुख आधार इतिहास है और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों मूल आधार भी इतिहास ही है। इतिहास को मार्क्स ने एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा था किन्तु उसकी इतिहास की अवधारणा का मुख्य आधार आर्थिक जीवन है।

टॉमस मूर,'डिगर्स' नामक शुद्धाचारवादी धार्मिक दल, जीन जैकस रूसो, टॉमस पेन विलियम गोडविन, बैब्यूफ, सिसमोंडी, रॉबर्ट ओवन, सेन्ट साइमन, चार्ल्स फूरिए तथा लुई ब्लां आदि की समाजवादी विचारधारा ने मार्क्स को प्रभावित किया था।

जर्मनी में फ़र्डिनैन्ड लसैल ने 1863 में 'जनरल एसोसियेशन ऑफ़ वर्कर्स' की स्थापना की। पेरिस में कार्यरत जर्मन मज़दूरों ने 1836 में 'लीग ऑफ़ दि जस्ट' की स्थापना की। 1864 में स्थापित 'प्रथम इण्टरनेशनल' कार्ल मार्क्स की देन थी। मार्क्स ने मज़दूर वर्गों का आवाहन किया कि वो अपनी मुक्ति की लड़ाई स्वयं लड़ें। कार्ल मार्क्स की मृत्यु 1883 में हो गई थी किन्तु 1889 में आयोजित 'द्वितीय इण्टरनेशनल' उसी के प्रयासों का सुपरिणाम था।

मार्क्सवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकतावादी लेखन, इतिहास लेखन की वह शाखा है जो मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्त –'ऐतिहासिक परिणामों को निर्धारित करने में सामाजिक वर्ग व आर्थिक दबावों की निर्णायक भूमिका' में विश्वास रखती है। मार्क्सवादी इतिहास सामान्यतः नियतिवादी है क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि इतिहास एक निश्चित अन्त की ओर बढ़ता है और वह अन्त है – 'एक वर्गहीन मानव–समाज' की स्थापना।

हेनरी मार्गन, व्लादीमिर लेनिन, आर0 एच0 टानी, क्रिस्टोफ़र हिल, ई0 एच0 हॉब्सबॉम, ई0 पी0 टॉमसन, ई0 एच0 कार, बी0 एन0 दत्त, डी0 डी0 कोसाम्बी, आर0 एस0 शर्मा, रोमिला थापर, इरफ़ान हबीब, एम0 एन0 राय,ए0 आर0 देसाई, बिपन चन्द्रा, के0 एम0 पनिकर, रंजीत गुहा आदि इतिहासकारों ने मार्क्स की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

उटोपिया – कल्पना लोक

'प्रथम इण्टरनेशल' – 'अन्तर्राष्ट्रीय कामगार समिति'

आइडियोलोजी – सिद्धान्तवाद

क्लास स्ट्रगल – वर्ग–संघर्ष

मैनिफ़ैस्टो – घोषणापत्र

फ़्यूडलिज़्म – सामन्तवाद

3.7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 3.4.1 कार्ल मार्क्स से पूर्व निजी सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन विषयक विचार
2. देखिए 3.5.3 कार्ल मार्क्स की रचनाएं
3. देखिए 3.5.2 प्रथम इण्टरनेशनल

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

कॉलिंगवुड, आर0 जी0 – *दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री*, लन्दन, 1978

गूच, जी0 पी0 – *दि हिस्ट्री एण्ड दि हिस्टोरियन्स ऑफ़ दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी*, लन्दन, 1913

श्रीधरन, ई0 – *ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी*, नई दिल्ली, 2013

कार, ई0 एच0 (अनुवादकः चक्रधर, अशोक) – 'इतिहास क्या है', नई दिल्ली, 1993

थापर, रोमिला (सम्पादक) – 'इतिहास की पुनर्व्याख्या' नई दिल्ली, 1991

पामदत्त, रजनी – ' आज का भारत', दिल्ली, 2001

लेनिन – 'मार्क्स, एंगेल्स–मार्क्सवाद', मॉस्को, 1971

3.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

वर्मा, लालबहादुर – 'इतिहास के बारे में', इलाहाबाद, 2000

शर्मा, रामविलास – 'इतिहास दर्शन', नई दिल्ली, 1995

शर्मा, आर0 एस0 – 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास', नई दिल्ली, 1998

सरकार, सुमीत – 'सामाजिक इतिहास लेखन की चुनौती', दिल्ली, 2001

हबीब, इरफ़ान – 'भारतीय इतिहास की प्रमुख व्याख्याएं', नई दिल्ली, 1999

गुहा, रंजीत, गायत्री चक्रबर्ती (सम्पादक) – 'सेलेक्टेड सॅबॅल्टर्न स्टडीज़', दिल्ली, 1988

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

इकाई चार– बीसवीं शताब्दी का इतिहास लेखनः स्पैंग्लर और टायनबी के संदर्भ में

4.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इतिहास एक स्वतन्त्र वैज्ञानिक विषय के रूप में स्थापित हो चुका था और इसकी प्रणाली व तकनीक पर सी0 वी0 लैंग्लोइस, चार्ल्स सीग्नोबोस, तथा लॉर्ड एक्टन द्वारा इतिहास के सिद्धान्त के पुनर्परीक्षण के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हुआ। डर्खेम, वेबर और फ्रॉयड ने ऐतिहासिक विश्लेषण की परम्परागत प्रणाली को एक नया आयाम दिया। स्पेंगलर ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद और टायनबी ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विशेषज्ञता के इस युग में इतिहास में संश्लेषण और

उद्देश्य की आवश्यकता पर बल दिया। ओस्वॉल्ड स्पेंगलर तथा ऑर्नाल्ड जे0 टायनबी की रचनाएं प्राथमिक स्रोतों पर आधारित इतिहास तथा सार्वभौमिक इतिहास के समाकलन के दो उदाहरण हैं। स्पेंगलर की रचनाओं में सामान्यीकरण की अधिकता है जब कि टायनबी स्रोत पर आधारित इतिहास लेखन तथा सार्वभौमिक इतिहास लेखन के समाकलन के साथ मानव सभ्यताओं के अध्ययन की ओर अग्रसर होता है। दोनों ही इतिहासकारों ने इतिहास के प्रस्तुतीकरण में सोद्देश्यवादी सिद्धान्तों को समाहित करने का प्रयास किया है। स्पेंगलर और टायनबी वास्तव में विश्व युद्ध प्रारम्भ होने से ठीक पहले के समय के उत्तर–आधुनिक शैली के अनुदारवादी विचारक हैं। इस युद्ध की भयावह विनाश लीला ने बीसवीं शताब्दी के विचारकों को दार्शनिक स्तब्धता और निराशा की स्थिति में डाल दिया था। स्पेंगलर की रचना 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में भी विचारकों की ऐसी ही मनःस्थिति का प्रतिबिम्बन है। 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में इस धारणा को प्रस्तुत किया गया है कि संस्कृतियों के इतिहास को जन्म, विकास और पतन के निश्चित नियम संचालित करते हैं और इन नियमों का गहन अध्ययन व विश्लेषण कर हम इतिहास के विषय में सटीक भविष्यवाणी कर सकते हैं। स्पेंगलर द्वारा सार्वाभौमिक इतिहास की व्यवस्थित व्याख्या का प्रयास सराहनीय है।

टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में स्पेंगलर के ग्रंथ 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में प्रतिपादित चक्रीय सिद्धान्त का अनुकरण किया था किन्तु उसे उसका प्राचीन यान्त्रिक नियतिवाद का आदर्श स्वीकार्य नहीं था। टायनबी ने अनुभवाश्रित एवं प्रेरक आदर्श का चयन किया। इस कार्य–प्रणाली में 26 सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है क्योंकि टायनबी यह मानता है कि ऐतिहासिक अध्ययन की सुबोधगम्य इकाइयां राष्ट्र अथवा काल नहीं बल्कि समाज अथवा सभ्यताएं हैं। टायनबी की इतिहास रूपी पहेली की प्रमुख कुंजी अपने द्वारा प्रतिपादित 'चुनौती और प्रतिक्रिया' की परिकल्पना है। टायनबी ने चुनौती और प्रतिक्रिया की परिकल्पना द्वारा विभिन्न सभ्यताओं के जन्म, विकास, विघटन और पतन के चक्र को समझने का प्रयास किया है। टायनबी का यह मानना है कि किसी सभ्यता का विकास तब होता है जबकि उसके समक्ष आई हुई चुनौती का उसके द्वारा दिया गया जवाब न केवल सफल हो अपितु आगे अधिक कठिन चुनौती का मुकाबला करने के लिए उसके नागरिक तत्पर हों। टायनबी सभ्यताओं के विकास और उनके पतन को एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखता है। आज हम इतिहास को कला और विज्ञान दोनों के सम्मिलन के रूप में जानते हैं और इस निष्कर्ष तक पहुंचने में टायनबी के दृष्टिकोण ने हमारी सहायता की है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको प्राचीन काल व मध्यकाल में युगों के विभिन्न चक्रीय सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए आधुनिक काल के, विशेषकर स्पेंगलर तथा टायनबी के युगों के चक्रीय सिद्धान्तों से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे–

- प्राचीन काल से लेकर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक युगों के चक्रीय सिद्धान्तों के विषय में।
- आदि काल से लेकर 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' की रचना से पूर्व तक की मानव सभ्यताओं के जन्म, विकास, पतन व अन्त के विषय में।
- स्पेंगलर द्वारा आठ संस्कृतियों के विवरण, विशेषकर पाश्चात्य संस्कृति–सभ्यता के पतन के विषय में।
- टायनबी द्वारा 26 सभ्यताओं के उत्थान एवं पतन के विश्लेषणात्मक अध्ययन के विषय में।

4.3 प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक युगों के चक्रीय सिद्धान्त

4.3.1 प्राचीन भारतीय तथा ग्रीक युग–चक्रवादी सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय परम्परा में इतिहास को एक निरन्तर गतिशील चक्र के रूप में माना गया है। भारतीय युग चक्रीय सिद्धान्त प्राचीन वैदिक, जैन एवं बौद्ध दर्शन में दृष्टव्य है। भारतीय संस्कृति में चार युगों की कल्पना की गई है –

कृत युग – कृत युग को मानव इतिहास का स्वर्ण युग माना गया है।

त्रेता युग – युगचक्र के इस द्वितीय चरण में मानवीय गुणों तथा सामाजिक सुखों की अवनति परिलक्षित होने लगी।

द्वापर युग – युगचक्र के इस तृतीय चरण में मानवीय कष्टों, संघर्षों का दौर प्रारम्भ हुआ और मानव–जीवन को सन्मार्ग पर चलाने हेतु संस्कारों का सृजन तथा नियमों की व्यवस्था की गई।

कलियुग – युगचक्र के इस अन्तिम चरण में मानवता अपने पतन की पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है, धर्म की अवनति होने लगती है और सामाजिक वैमनस्य बढ़ने लगता है।

भारतीय युगचक्रवादी सिद्धान्त से अवतारवाद की अवधारणा घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। किसी भी युग में जब अधर्म और अनाचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं तो भगवान साधुजनों की रक्षार्थ व दुष्टों के विनाशार्थ अवतार लेते हैं।

यूनानी इतिहासकारों – हेसिओड, थ्यूसीडाइडीस तथा तथा पोलिबियस ने युग– चक्रवादी सिद्धान्त में अपनी आस्था व्यक्त की है। भारतीयों की भांति ही यूनानी विचारकों ने भी इतिहास को चार युगों में विभाजित किया है। इन चार युगों के नाम हैं – स्वर्ण युग, रजत युग, कांस्य युग एवं लौह युग।

4.3.2 ईसाई तथा मुस्लिम युग–चक्रवादी सिद्धान्त

मध्य काल में ईसाई परम्परा के इतिहासकार सन्त अगस्ताइन ने देव नगर और पाप नगर के विरोधाभास का प्रतिपादन करते हुए इतिहास में सात अवस्थाओं का उल्लेख किया है।

अरबी इतिहासकार इब्न खलदूम यह मानता है कि सभ्यताएं शरीर की भांति विकसित, प्रौढ़ एवं क्षीण होकर अपनी निश्चित जीवन–अवधि व्यतीत करती हैं और अन्ततः नष्ट हो जाती हैं।

4.3.3 ज़ियाम्बत्तिस्ता विको तथा हर्डर के युग–चक्रवादी सिद्धान्त

युगों के चक्रात्मक क्रम के सिद्धान्त का प्रमुख आशय यह है कि जिस प्रकार दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आते हैं, दुख के बाद सुख और सुख के बाद दुख आते हैं और एक ऋतु एक बाद दूसरी तथा दूसरी के बाद तीसरी ऋतु आती है, ठीक उसी तरह विभिन्न युग एक के बाद एक आते हैं और इतिहास की गति को नियमित करते हैं। इतिहास–दर्शन के संस्थापक और महान इतिहासकार, इटली निवासी ज़ियाम्बत्तिस्ता विको (1608–1644) के अनुसार देश को और मानव–सभ्यता को विकास के निश्चित चरणों से होकर गुज़रना पड़ता है। ये चरण हैं – जन्म, परिपक्वता, पराभव और पतन। विको ने आधुनिक काल में इतिहास के चक्रीय सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया था। विको इतिहास को तीन युगों – 'हीरोइक युग', 'क्लासिक युग' और 'पतन का युग' में विभाजित करता है। मानव सभ्यता के विकास के प्रत्येक चरण के आचार–व्यवहार, कानून, अर्थ–व्यवस्था, साहित्य व कला सम्बन्धी अपनी–अपनी विशेषताएं होती हैं। उसने सांस्कृतिक दृष्टि से हर युग और हर देश में अन्तर देखा। इसका तात्पर्य यह है कि देश और काल के अनुसार ही किसी प्रकार का ऐतिहासिक आकलन किया जाना उचित है।

अठारहवीं शताब्दी में प्रशा के दार्शनिक एवं ब्रह्मविज्ञानी हर्डर ने प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति को – अपने अन्तर्निहित लक्षण 'राष्ट्रीय चरित्र' के साथ एक जैविक इकाई माना जिसकी कि अभिव्यक्ति भाषा, साहित्य, कला और नैतिक–संहिता में होती है। हर्डर जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता है। हर्डर के अनुसार किसी भी देश का राष्ट्रीय चरित्र उसके इतिहास को अत्यधिक प्रभावित करता है। हर्डर इतिहासकारों को निर्देश देते हुए कहता है –'किसी देश के बारे में लिखने से पहले तुम उस देश के साथ सहानुभूति रखो, उसके युग में जाओ, उसके भूगोल में जाओ, उसके सम्पूर्ण इतिहास में जाओ, यह अनुभव करो कि तुम वहीं हो।'

4.4. ओस्वॉल्ड ऑर्नाल्ड स्पेंगलर का युग चक्रवादी सिद्धान्त

4.4.1 स्पेंगलर का संस्कृतियों के उत्थान–पतन विषयक विचार

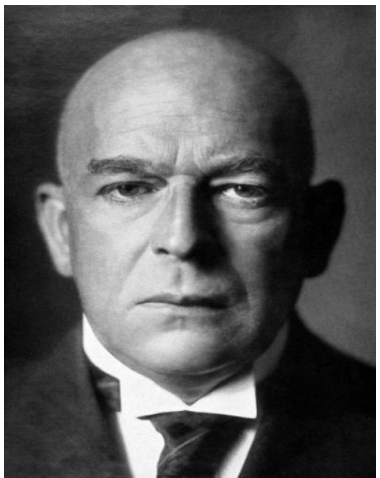

ओस्वॉल्ड ऑर्नाल्ड स्पेंगलर (1880–1936) एक जर्मन इतिहासकार और इतिहास–दार्शनिक था। उसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार 1918 तथा 1922 में प्रकाशित प्रारब्ध पर लिखी उसकी युद्ध

विरोधी पुस्तक 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' है। इस पुस्तक में स्पेंगलर ने सम्पूर्ण विश्व के इतिहास का अध्ययन किया है। अपने इस ग्रंथ में उसने एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह सिद्धान्त है – 'प्रत्येक मानव–सभ्यता की एक सीमित जीवन–अवधि होती है और अन्ततः प्रत्येक सभ्यता का पतन होता है।' स्पेंगलर इतिहास को शाश्वत मानता है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों का उत्थान और पतन होता रहता है। स्पेंगलर विश्व इतिहास को रेखीय आकार (जिसके अनुसार इतिहास को विभिन्न कालों – प्राचीन, मध्य और आधुनिक में विभाजित किया जाता है।) में कल्पित नहीं करता है। स्पेंगलर विश्व इतिहास को महान संस्कृतियों का एक नाटक मानता है। इस नाटक में प्रत्येक संस्कृत स्वयमेव पल्लवित होती है। प्रत्येक संस्कृति एक जैव इकाई के समान है जिसके कि विभिन्न जीवन–चक्र होते हैं। प्रत्येक संस्कृति का अपना बचपन, जवानी और बुढ़ापा होता है और एक समय ऐसा भी आता है जब कि उस संस्कृति की मृत्यु हो जाती है, अर्थात् वह पूरी तरह नष्ट हो जाती है। प्रत्येक संस्कृति आरम्भ में बर्बरता के दौर से गुज़रती है और कालान्तर में विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं, कला, विज्ञान आदि का विकास होता है। अपने अंतिम दौर में संस्कृति विकृत होकर अपनी सृजनशीलता को खोकर पतन की ओर अग्रसर होती है जिसमें सर्वत्र विकृतियां दिखाई देने लगती हैं और संस्कृति की सृजनशीलता समाप्त हो जाती है। अन्ततः संस्कृति नष्ट हो जाती है। स्पेंगलर, जातियों, भाषाओं, भू–प्रदेशों आदि को वृक्ष–रूपी संस्कृतियों की फूल–पत्तियां मानता है। वह संस्कृतियों को जैविक मानते हुए विश्व इतिहास को उनकी सामूहिक जीवनियां मानता है। संस्कृतियों के जीवन में वसन्त, ग्रीष्म, पतझड़ और शीत ऋतु आते हैं।

4.4.2 स्पेंगलर का विश्व–इतिहास विषयक विचार

स्पेंगलर आठ प्रमुख संस्कृतियों का उल्लेख करता है। ये आठ संस्कृतियां हैं – मिस्र की, बेबीलोनियन, भारतीय, चीनी, ग्रीको–रोमन (क्लासिकल), अरबी, मैक्सिकन और पाश्चात्य (यूरोपियन–अमेरिकन)। इनमें से प्रत्येक संस्कृति अपने–अपने प्रमुख परिसर अथवा मूल प्रतीक पर आधारित है और यही उसके विज्ञान, दर्शन, कला, आस्था, जीवन–पद्धति, विचार और कार्यों को निर्दिष्ट करते हैं। स्पेंगलर इन सभी संस्कृतियों के युगों के चक्र को निश्चित मानता है। प्रत्येक संस्कृति का जीवन औसतन 1000 वर्ष का होता है। स्पेंगलर का यह विचार है कि जब किसी संस्कृति की आत्मा का विकास रुक जाता है तो वह अपने अन्तिम रूप में सभ्यता में प्रविष्ट होती है। स्पेंगलर पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है। स्पेंगलर मिस्र, बेबीलोनिया तथा मिनोन सभ्यताओं को मृत सभ्यताएं, पोलीनीसियन, एस्किमो, नामाड, स्पार्तन तथा ओसमानली सभ्यताओं को अवरुद्ध (जिनका विकास रुक गया हो) सभ्यताएं तथा आधुनिक पाश्चात्य ईसाई समाज, कट्टरपंथी ईसाई समाज, मुस्लिम, हिन्दू तथा सुदूर पूर्व की सभ्यताओं को वर्तमान काल में भी जीवित सभ्यताएं मानता है। जब संस्कृति सभ्यता के स्तर पर आ जाती है तो उसमें रहने वालों के मन–मस्तिष्क में धर्म का स्थान धर्महीन विज्ञान, समष्टि के स्थान पर

व्यष्टि, वास्तविक शाश्वत मूल्यों के स्थान पर धन–सम्पदा सम्बन्धी मूल्य और मातृत्व जैसी पवित्र व निश्छल भावना के स्थान पर काम–भावना विकसित हो जाती है। जैसे दिया बुझने पहले एक बार फिर तेज़ हो जाता है उसी प्रकार सभ्यता अपने पतन से पूर्व एक बार फिर धर्म की ओर उन्मुख होती है जिसके कारण धर्म सुधार आन्दोलन का विकास होता है और रहस्यवादी प्रवृत्तियां भी प्रबल हो जाती हैं किन्तु यह प्रवृत्ति एक संस्कृति के पतन और दूसरी संस्कृति के जन्म की सूचक है।

स्पेंगलर ने जिन 8 संस्कृतियों का उल्लेख किया है, उनमें से उसने मुख्यतः चार संस्कृतियों की विस्तृत चर्चा की है। इनमें प्रथम भारतीय संस्कृति है, द्वितीय संस्कृति – पुरातन यूरोपीय संस्कृति (ग्रीको–रोमन) है, तृतीय मध्यकालीन संस्कृति है (इसमें ईसाई और मुस्लिम संस्कृतियां सम्मिलित हैं)और चौथी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति है। स्पेंगलर के अनुसार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अपने जन्म से 1000 वर्ष पूरा करने के बाद पाश्चात्य संस्कृति शीत ऋतु के पड़ाव तक अर्थात् अपने पतन के चरण तक पहुंच गई है। स्पेंगलर के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य देश वासी फ़ॉस्टियन (अपनी आत्मा बेचकर भौतिक सुख खरीदने वाले) हैं। अपनी भौतिक प्रगति पर गर्व करने वाले इन पाश्चात्य देशवासियों की दुखद स्थिति पर स्पेंगलर शोक व्यक्त करता है क्योंकि वो स्वयं अपने भीतर–भीतर जानते हैं कि वो जिस लक्ष्य तक पहुंचने का अनवरत एवं अनथक प्रयास कर रहे हैं, उस तक वो कभी पहुंचेंगे नहीं।

4.4.3 स्पेंगलर की दृष्टि में प्रत्येक संस्कृति की अपनी–अपनी विशिष्टताएं

स्पेंगलर का यह मानना है कि किसी एक संस्कृति की भावना किसी दूसरी संस्कृति को हस्तान्तरित नहीं हो सकती। हर संस्कृति का मूल प्रतीक विशिष्ट और अन्य सभी सभ्यताओं सें अलग होता है। मिस्र की संस्कृति का मूल प्रतीक – पाषाण है, ग्रीक संस्कृति का मूल प्रतीक – सौन्दर्य का आदर्श है, भारतीय संस्कृति का मूल प्रतीक – आत्मा की मुक्ति है और पाश्चात्य संस्कृति का मूल प्रतीक – कंदरा अथवा गुंबद है।

4.4.4 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट'

'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में इस धारणा को प्रस्तुत किया गया है कि संस्कृतियों के इतिहास को जन्म, विकास और पतन के निश्चित नियम संचालित करते हैं और इन नियमों का गहन अध्ययन व विश्लेषण कर हम इतिहास के विषय में सटीक भविष्यवाणी कर सकते हैं। स्पेंगलर के अनुसार 'उत्थान के बाद पतन होता है' का सिद्धान्त संस्कृतियों–सभ्यताओं के इतिहास पर भी लागू होता है। गर्वोन्मत्त मिस्र, सुन्दर ग्रीस और महान रोम की सभ्यताएं , सभी एक दिन काल के गर्त में समा गईं। जूडिया, फ़ोनेसिया, कार्थेज, बेबीलोनिया, असीरिया और पर्शिया की सभ्यताएं भी विनष्ट हो गईं। स्पेंगलर यह प्रश्न उठाता है – 'क्या उत्थान और पतन का यह नियम आधुनिक इटली, स्पेन, फ़्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी जैसे देशों वाले यूरोप पर लागू नहीं होगा?'

'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट', ऑटो सीक की रचना 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि एन्टीक्विटी' से प्रभावित थी। इसमें समकालीन विश्व–व्यापी युद्ध–विरोधी मानसिकता का प्रतिबिम्बन है। 'इस पुस्तक के दूसरे खण्ड में स्पेंगलर ने एक ऐसा वैश्विक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसमें प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जर्मनी और ऑस्ट्रिया के निवासियों की भावनाओं की प्रतिध्वनि है। स्पेंगलर ने मित्र राष्ट्रों की विजय के खोखलेपन को भी दर्शाया है। इस पुस्तक में लोकतन्त्र को पतनशील सभ्यता का द्योतक माना गया है। जर्मनी में लोकतन्त्र की असफलता के पश्चात बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के प्रारम्भ में स्पेंगलर ने तानाशाही अथवा अधिनायक तन्त्र के उत्थान का समर्थन किया है।

4.4.5 स्पेंगलर की अन्य रचनाएं

1920 में स्पेंगलर ने 'प्रशियनडम एण्ड सोशलिज़्म' की रचना की जिसमें कि उसने समाजवाद और सत्तावाद के एक सुगठित राष्ट्रवादी रूप के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए हैं। अपनी पुस्तक 'मैन एण्ड दि टैक्नीक' (1931) में स्पेंगलर ने संस्कृति पर तकनीकी विकास और औद्योगिकीकरण के हानिकारक प्रभाव को दर्शाया है। स्पेंगलर की दर्शन सम्बन्धी एक पुस्तक – 'दि मैटाफ़िज़िकल आइडिया ऑफ़ हेराक्लिटिस फ़िलोसॅफ़ी' है।

अपने निजी पत्रों में स्पेंगलर ने यहूदी–विरोधी विचारधारा की खुलकर भर्त्सना की है। स्पेंगलर ने आने वाले समय में एक ऐसा विश्व युद्ध होने की चेतावनी दी थी जिसमें कि पाश्चात्य सभ्यता के विनष्ट होने का संकट था।

4.4.6 एक इतिहाकार के रूप में स्पेंगलर का आकलन

गोबिल जैसे नाज़ी, स्पेंगलर को अपना बौद्धिक अग्रदूत मानते थे किन्तु 1933 में उसे जर्मनी तथा समस्त यूरोप के भविष्य के विषय में निराशावादी दृष्टिकोण रखने, जातीय श्रेष्ठता की नाज़ी विचारधारा का समर्थन न करने, और अपनी विवादास्पद आलोचनात्मक रचना – 'दि आवर ऑफ़ डिसीज़न' के लेखन के आरोप में जर्मनी से निर्वासित कर दिया गया। हिटलर के राजनीतिक उत्थान के बावजूद वह अपने दृष्टिकोण पर निरन्तर कायम रहा।

स्पेंगलर द्वारा सार्वाभौमिक इतिहास की व्यवस्थित व्याख्या का प्रयास सराहनीय है। स्पेंगलर द्वारा सन्निकट निष्ठुर तानाशाही की भविष्यवाणी हिटलर के उत्थान और उसके सत्ताग्रहण से सत्य सिद्ध हुई। परन्तु अब स्पेंगलर की पुस्तक अधिकांशतया एक कपोल–कल्पना जैसी प्रतीत होती है, विशेषकर उसके द्वारा की गई पाश्चात्य सभ्यता के सन्निकट अनिष्टसूचक विनाश की निराशाजनक भविष्यवाणी। इतिहास विशेषज्ञों ने स्पेंगलर की अप्रामाणिक तरीकों की आलोचना की है क्योंकि वह तथ्यों को गलत प्रकार से प्रस्तुत करने की कोई चिन्ता नहीं करता है। मानव–समाज को एक जैविक इकाई के रूप में प्रस्तुत करने की स्पेंगलर की असफल कोशिश के कारण सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र में 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' के

महत्वपूर्ण योगदान पर भी शंकाएं उठी हैं। समीक्षकों ने स्पेंगलर के अवश्यम्भावी पतन के नियतिवादी सिद्धान्त की आलोचना की है और साथ ही साथ उसके द्वारा ज्ञानोदय, प्रगति के सिद्धान्त तथा सैकड़ों वर्षों के संघर्ष के बाद हासिल की गई लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता के परित्याग को भी दोषपूर्ण माना है।

स्पेंगलर की फ़ॉस्टियन (अपनी आत्मा बेचकर दुनियावी समृद्धि प्राप्त करने का सौदा), चक्रीय, तथा पाश्चात्य सभ्यता के अवश्यम्भावी विनाश की अवधारणाओं ने आने वाली पीढ़ी के दार्शनिकों, इतिहासकारों, साहित्यकारों, चित्रकारों, फ़िल्मकारों और समीक्षकों को अत्यधिक प्रभावित किया है। उसकी विचारधारा से प्रभावित दार्शनिकों में मार्टिन हीडेगर, लुडविग विट्जेन्सटीन तथा फ़्रांसिस पार्कर यॉकी के नाम प्रमुख हैं। उससे प्रभावित लेखकों तथा कवियों में अर्नेस्ट हेमिंग्वे, विला कार्थर, हेनरी मिलर, एच0 जी0 वेल्स तथा मैल्कम लोली, हैरमन कान ('दि ईयर 2000' मे फ़ास्टियन अवधारणां), जॉन डॉस पैसोस, एफ़0 स्कॉट फ़िट्ज़ेराल्ड, विलियम एस0 बरो, जैक कैरोक, कवि विलियम बटलर यीट्स आदि प्रमुख हैं। चित्रकार कोकोशका तथा फ़िल्मकार फ़्रिट्ज़ लैग पर भी स्पेंगलर की विचारधारा का प्रभाव पड़ा है।

4.5 टायनबी का युग चक्रवादी सिद्धान्त

4.5.1 टायनबी द्वारा सभ्यताओं के उत्थान एवं पतन की व्याख्या

ऑर्नाल्ड, जे0 टायनबी (1889–1968) एक ब्रिटिश इतिहाकार तथा इतिहास–दार्शनिक था। वह लन्दन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स तथा यूनीवर्सिटी ऑफ़ लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास का प्रोफ़सर रहा था। टायनबी ने ग्रीक एवं लैटिन साहित्य का गहन अध्ययन कर और अनेक बार विश्व–भ्रमण कर इतिहास के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिपक्व एवं व्यापक बनाया था। टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में स्पेंगलर के ग्रंथ 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में प्रतिपादित चक्रीय सिद्धान्त का अनुकरण किया है किन्तु उसे उसका प्राचीन यान्त्रिक नियतिवाद का आदर्श स्वीकार्य नहीं है। टायनबी ने ब्रिटिश परम्परा के अनुभवाश्रित एवं प्रेरक आदर्श का चयन किया है। इस कार्य–प्रणाली में 26 सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है क्योंकि टायनबी यह मानता है कि ऐतिहासिक अध्ययन की सुबोधगम्य इकाइयां राष्ट्र अथवा काल नहीं बल्कि समाज अथवा सभ्यताएं हैं।

टायनबी मानव–इतिहास और मानव–अस्तित्व के सन्दर्भ में सभ्यताओं को अपेक्षाकृत हाल ही में हुई घटना मानता है। टायनबी पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है। टायनबी मिस्र, बेबीलोनिया तथा मिनोन सभ्यताओं को मृत सभ्यताएं, पोलीनीसियन, एस्किमो, नामाड, स्पार्तन तथा ओसमानली सभ्यताओं को अवरुद्ध (जिनका विकास रुक गया हो) सभ्यताएं तथा आधुनिक पाश्चात्य

ईसाई समाज, कट्टरपंथी ईसाई समाज (इसमें रूस तथा दक्षिण–पूर्वी यूरोप के देश सम्मिलित हैं), मुस्लिम, हिन्दू तथा सुदूर पूर्व (इसमें जापान, कोरिया व चीन सम्मिलित हैं) की सभ्यताओं को वर्तमान काल में भी जीवित सभ्यताएं मानता है।

4.5.2 चुनौती एवं प्रतिक्रिया

टायनबी की इतिहास रूपी पहेली की प्रमुख कुंजी अपने द्वारा प्रतिपादित 'चुनौती और प्रतिक्रिया' की परिकल्पना है। उसने चुनौती और प्रतिक्रिया की परिकल्पना द्वारा विभिन्न सभ्यताओं के जन्म, विकास, विघटन और पतन के चक्र को समझने का प्रयास किया है। सभ्यता की, एक इकाई के रूप में पहचान कर, वह प्रत्येक सभ्यता के इतिहास को चुनौती और प्रतिक्रिया के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। सभ्यताओं का तब उत्थान होता है जब सृजनशील अल्पसंख्यक कठिन से कठिन चुनौती का सामना करने के लिए ऐसे समाधानों की खोज कर लेते हैं जिनसे कि सम्पूर्ण समाज में नव–चेतना का संचार हो जाता है। अपने इस विचार की पुष्टि के लिए टायनबी भौतिक चुनौती के रूप में सुमेरियन सभ्यता का दृष्टान्त देता है। सुमेरिया के निवासियों के समक्ष दक्षिण ईराक का दुर्दमनीय दलदल उनके अस्तित्व के लिए सबसे बड़ा खतरा था। सुमेरिया के नव–प्रस्तरयुगीन सृजनशील अल्पसंख्यकों ने वहां के निवासियों को संगठित कर विशाल सिंचाई योजनाओं को साकार किया और दलदल की समस्या का स्थायी समाधान किया। सामाजिक चुनौती के रूप में टायनबी रोमन साम्राज्य के विघटन के कारण उत्पन्न अराजकता के संकट का निवारण करने के लिए कैथोलिक चर्च के योगदान का उल्लेख करता है जिसने कि जर्मन–जातीय राज्यों को धार्मिक समुदाय की एक इकाई के रूप में संगठित किया।

टायनबी का यह मानना है कि किसी सभ्यता का विकास तब होता है जबकि उसके समक्ष आई हुई चुनौती (यह चुनौती भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक अथवा किसी अन्य प्रकार की भी हो सकती है) का उसके द्वारा दिया गया जवाब न केवल सफल हो अपितु आगे अधिक कठिन चुनौती का मुकाबला करने के लिए उसके नागरिक तत्पर हों। जब एक सभ्यता के नेता चुनौतियों का सृजनात्मक रूप से जवाब देने में असफल रहे तो राष्ट्रवाद, सैनिकवाद के उदय अथवा अल्पसंख्यक स्वेच्छाचारियों के अत्याचार के कारण उसका पतन हुआ। टायनबी सभ्यताओं के विकास और उनके पतन को एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखता है।

टायनबी की शोध प्रविधि अनुभववादी है। वह प्राचीन से प्राचीन युग के साथ स्वयं को सम्बद्ध करके उनमें हुई घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। टायनबी का यह दावा है कि हम अतीत के अनुभव के आधार पर भविष्य के विषय में अनुमान लगा सकते हैं।

4.5.3 सभ्यता के विघटन के कारण

टायनबी का यह मानना है कि कोई भी सभ्यता अपनी उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुंचने के बाद विघटन की ओर अग्रसर होती है। यह विघटन की स्थिति तब आती है जब चुनौतियों का सफलतापूर्वक प्रत्युत्तर देने में सभ्यता असफल हो जाती है। इस असफलता के मुख्यतः तीन कारण हैं –

1. सृजनशील अल्प–संख्यकों रचनात्मकता का अभाव।
2. सर्वहारा बहु–संख्यकों द्वारा सृजनात्मक अल्प–संख्यकों का अनुकरण न करना।
3. सामाजिक एकता में कमी आने के कारण एकजुट होकर चुनौतियों का सामना करने की शक्ति का लुप्त हो जाना।

4.5.4 सभ्यता का पतन

टायनबी का विश्वास है कि समाजों का विनाश प्राकृतिक कारणों से नहीं अपितु हत्या अथवा आत्मघात के कारण होता है और इसमें भी ज़्यादातर आत्मघात ही इसका कारण होता है।

4.5.5 टायनबी की रचनाएं

टायनबी की रचनाएं हैं – 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री', 'सिविलाइज़शन ऑन ट्रायल', 'दि वर्ड एण्ड दि वैस्ट', क्रिश्चियैनिटी अमॉन्ग दि रिलीजन्स ऑफ़ दि वर्ड'',नैशनैलिटी एण्ड वार', 'ए हिस्टोरियन्स व्यू ऑफ़ रिलीजन', 'ग्रीक हिस्टोरिकल थॉट', 'ईस्ट टु वैस्टः ए जर्नी राउण्ड दि वर्ड', 'हेलेनिज़्म', 'ए हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइज़ेशन', 'ऑटोबायग्राफ़ी', 'सर्वे ऑफ़ इण्टर–नेशनल अफ़ेयर्स'(वार्षिक पत्रिका जिसकी कि अन्तिम कड़ी 'मैनकाइन्ड एण्ड दि मदर अर्थ' है।) आदि। 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में इतिहास की प्रकृति, इतिहास के अर्थ तथा ऐतिहासिक परिवर्तन के कारण व उसकी महत्ता का अध्ययन किया गया है। '1914 (प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने का वर्ष) के बाद सभ्यता पर संकट छा गया है', टायनबी की इस अनुभूति ने उसे सभ्यता के उद्‌गम और विकास की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। क्यों किंचित सभ्यताएं विकसित होती हैं जब कि वैसी ही लाभदायी परिस्थितियों के बावजूद अन्य किंचित सभ्यताओं का पतन हो जाता है? टायनबी के ग्रंथ का विशिष्ट विषय संस्कृतियों के उद्‌गम, विकास और विघटन का दार्शनिक अन्वेषण है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ ने चक्रीय विकास एवं सभ्यताओं के पतन के विश्लेषण पर आधारित इतिहास–दर्शन प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ ने ओसवाल्ड स्पेंगलर के पृथक एवं स्वतन्त्र सभ्यताओं के दृष्टिकोण के विरुद्ध सांस्कृतिक विलयनीकरण पर अत्यधिक महत्व दिया है और इसने ऐतिहासिक सिद्धान्त को अत्यधिक प्रभावित किया है।

4.5.6 एक इतिहास–दार्शनिक के रूप में टायनबी का आंकलन

अनेक विद्वानों द्वारा 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' को इतिहास के विश्वकोश और बीसवीं शताब्दी के महानतम ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में मान्यता दी गई है। 1947 में 'टायनबी पर 'टाइम्स मैगज़ीन' में प्रकाशित एक लेख में 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' को इंग्लैण्ड में कार्ल मार्क्स की पुस्तक 'कैपिटल' के बाद

ऐतिहासिक सिद्धान्त पर रचित सबसे उत्तेजनात्मक ग्रंथ बताया गया था। बीसवीं शताब्दी के पाँचवें तथा छठे दशक में टायनबी सम्भवतः सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला तथा सबसे चर्चित विद्वान रहा है।

टायनबी के लेखन में धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण की परम–व्याप्ति के कारण 1960 के बाद उसकी लोकप्रियता में अप्रत्याशित कमी आई और आज उसकी रचनाएं विवादास्पद मानी जाती हैं। उसके आलोचकों ने उसके अनुभववादी सिद्धान्त की विश्वसनीयता पर सन्देह व्यक्त किया है। टायनबी ने विभिन्न सभ्यताओं के आध्यात्मिक पक्ष पर विशेष बल दिया है और राष्ट्र, उद्योग, भौतिक उन्नति तथा मनुष्य की बौद्धिक शक्ति के विकास की उपेक्षा की है।एच0 ई0 बार्न्स ने टायनबी के ग्रंथ को ऐतिहासिक ग्रंथ के स्थान पर ईश–स्तुति का ग्रंथ माना है। टायनबी का कटु आलोचक पीटर गेल उसे धर्मदूत कहकर उसका उपहास उड़ाता है। गेल का मानना है कि इतिहास में अनन्त जटिलताएं हैं और ऐतिहासिक घटनाएं इतनी जल्दी–जल्दी बदलती हैं कि सार्वभौमिक इतिहास को किसी निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत बांधने से निराशा ही हमारे हाथ लगती है इसलिए वह टायनबी द्वारा अपने सभी तर्कों तक केवल अनुभवात्मक पद्धति द्वारा पहुंचने के दावे को खोखला बताता है। टेलर ने टायनबी की नियतिवाद में आस्था की आलोचना की है। सभ्यताओं विकास में मनुष्य की अपनी स्वतन्त्र एवं महत्वपूर्ण भूमिका होती है किन्तु टायनबी इस सत्य को सर्वथा नकार देता है। टायनबी ने 26 सभ्यताओं का चयन किसी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर नहीं किया है अपितु अपनी सुविधानुसार किया है। टायनबी ने मुख्यतः यूनानी सभ्यता का गहन करके अपना अनुभववादी सिद्धान्त विकसित किया है और फिर इस सिद्धान्त को उसने अन्य सभ्यताओं पर लागू किया है। सभ्यता के जन्म, उत्थान, विकास और विनाश विषयक टायनबी की अवधारणा की प्रामाणिकता पर प्रश्न उठाए जाने स्वाभाविक हैं। किसी भी सभ्यता में यदि परिवर्तन आते हैं तो टायनबी उसे मृत मान लेता है और एक नई सभ्यता के जन्म की घोषणा कर देता है। वास्तव में सभ्यताएं कभी पूरी तरह से विनष्ट नहीं होतीं और वो आगामी समय की सभ्यताओं के लिए विरासत में बहुत कुछ छोड़ जाती हैं।

टायनबी ने यूरोप–केन्द्रित इतिहास लेखन की परम्परा पर सबसे गहरी चोट की थी। संकीर्ण पश्चिम–मुखी इतिहास के स्थान पर वास्तव में सार्वभौमिक इतिहास की रचना द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अविकसित क्षेत्र के देशों के उत्थान के सन्दर्भ में और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। उसने विभिन्न समाजों के उद्‌गम, विकास और पतन का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया है। आज हम इतिहास को कला और विज्ञान दोनों के सम्मिलन के रूप में जानते हैं और इस निष्कर्ष तक पहुंचने में टायनबी के दृष्टिकोण ने हमारी सहायता की है। टायनबी ने इतिहास को एक नई दृष्टि दी है। 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' आधुनिक ऐतिहासिक शोध की अति विशिष्टता की प्रवृत्ति को सन्तुलित करने में सफल सिद्ध हुई है। टायनबी द्वारा सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हम अपनी संकुचित एवं संकीर्ण मानसिकता का परित्याग कर अपनी सभ्यता के अतिरिक्त दूसरी सभ्यताओं के इतिहास के प्रति अभिरुचि और सम्मान

की भावना जागृत कर सकते हैं और सम्पूर्ण मानव–जाति के विकास की गाथा समझने की क्षमता का विकास कर सकते हैं। अमेरिकी राजनीतिक विचारक हैन्स मॉर्जेन्थ्यू ने टायनबी को महान दार्शनिक मानते हुए उसकी उपलब्धियों को कालजयी बताया है।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए–

1. भारतीय युग चक्रवादी सिद्धान्त।
2. स्पेंगलर का संस्कृतियों के उत्थान–पतन विषयक विचार।
3. टायनबी की रचनाएं।

4.6 सारांश

स्पेंगलर तथा टायनबी की रचनाएं प्राथमिक स्रोतों पर आधारित इतिहास तथा सार्वभौमिक इतिहास के समाकलन के दो उदाहरण हैं। स्पेंगलर की रचनाओं में सामान्यीकरण की अधिकता है जब कि टायनबी स्रोत पर आधारित इतिहास लेखन तथा सार्वभौमिक इतिहास लेखन के समाकलन के साथ मानव सभ्यताओं के अध्ययन की ओर अग्रसर होता है। दोनों ही इतिहासकारों ने इतिहास के प्रस्तुतीकरण में सोद्देश्यवादी सिद्धान्तों को समाहित करने का प्रयास किया है।

विश्व युद्ध की भयावह विनाश लीला ने बीसवीं शताब्दी के विचारकों को दार्शनिक स्तब्धता और निराशा की स्थिति में डाल दिया था। स्पेंगलर की रचना 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में भी विचारकों की ऐसी ही मनःस्थिति का प्रतिबिम्बन है। इसमें स्पेंगलर ने एक नए सिद्धान्त – 'प्रत्येक मानव–सभ्यता की एक सीमित जीवन–अवधि होती है।' का प्रतिपादन किया है। स्पेंगलर इतिहास को शाश्वत मानता है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों का उत्थान और पतन होता रहता है। प्रत्येक संस्कृति का अपना बचपन, जवानी और बुढ़ापा होता है और एक समय ऐसा भी आता है जब कि उस संस्कृति की मृत्यु हो जाती है। स्पेंगलर आठ प्रमुख संस्कृतियों का वह उल्लेख करता है। ये आठ संस्कृतियां हैं – मिस्र की, बेबीलोनियन, भारतीय, चीनी, ग्रीको–रोमन, अरबी, मैक्सिकन और पाश्चात्य।

स्पेंगलर का यह विचार है कि जब किसी संस्कृति की आत्मा का विकास रुक जाता है तो वह अपने अन्तिम रूप में सभ्यता में प्रविष्ट होती है। स्पेंगलर पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है। स्पेंगलर के अनुसार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक पाश्चात्य संस्कृति शीत ऋतु के पड़ाव तक अर्थात् अपने पतन के चरण तक पहुंच गई है।

समीक्षकों ने स्पेंगलर के अवश्यम्भावी पतन के नियतिवादी सिद्धान्त की आलोचना की है। स्पेंगलर की फ़ॉस्टियन, चक्रीय, तथा पाश्चात्य सभ्यता के अवश्यम्भावी विनाश की अवधारणाओं ने आने वाली पीढ़ी

के दार्शनिकों, इतिहासकारों, साहित्यकारों, चित्रकारों, फ़िल्मकारों और समीक्षकों को अत्यधिक प्रभावित किया है।

टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में स्पेंगलर के ग्रंथ 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' में प्रतिपादित चक्रीय सिद्धान्त का अनुकरण किया है किन्तु उसे उसका प्राचीन यान्त्रिक नियतिवाद का आदर्श स्वीकार्य नहीं है। टायनबी ने 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' में अनुभवाश्रित एवं प्रेरक आदर्श का चयन किया है। इस कार्य–प्रणाली में 26 सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है क्योंकि टायनबी यह मानता है कि ऐतिहासिक अध्ययन की सुबोधगम्य इकाइयां राष्ट्र अथवा काल नहीं बल्कि समाज अथवा सभ्यताएं हैं। टायनबी ने चुनौती और प्रतिक्रिया की परिकल्पना द्वारा विभिन्न सभ्यताओं के जन्म, विकास, विघटन और पतन के चक्र को समझने का प्रयास किया है। टायनबी का यह मानना है कि किसी सभ्यता का विकास तब होता है जबकि उसके समक्ष आई हुई चुनौती का उसके द्वारा दिया गया जवाब न केवल सफल हो अपितु आगे अधिक कठिन चुनौती का मुकाबला करने के लिए उसके नागरिक तत्पर हों। टायनबी सभ्यताओं के विकास और उनके पतन को एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में देखता है। टायनबी पाश्चात्य सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मानने वालों से सहमत नहीं है।

टायनबी की शोध प्रविधि अनुभववादी है। टायनबी का यह दावा है कि हम अतीत के अनुभव के आधार पर भविष्य के विषय में अनुमान लगा सकते हैं।

टायनबी ने विभिन्न सभ्यताओं के आध्यात्मिक पक्ष पर विशेष बल दिया है और राष्ट्र, उद्योग, भौतिक उन्नति तथा मनुष्य की बौद्धिक शक्ति के विकास की उपेक्षा की है। एच0 ई0 बार्न्स तथा पीटर गेल, टायनबी के विचारों में एक धर्मदूत की मानसिकता के दर्शन करते हैं। टेलर ने टायनबी की नियतिवाद में आस्था की आलोचना की है। टायनबी ने 26 सभ्यताओं का चयन किसी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर नहीं किया है अपितु अपनी सुविधानुसार किया है। टायनबी ने मुख्यतः यूनानी सभ्यता का गहन करके अपना अनुभववादी सिद्धान्त विकसित किया है और फिर इस सिद्धान्त को उसने अन्य सभ्यताओं पर लागू किया है।

अनेक विद्वानों द्वारा 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' को इतिहास के विश्वकोश और बीसवीं शताब्दी के महानतम ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में मान्यता दी गई है। टायनबी को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने यूरोप–केन्द्रित इतिहास लेखन की परम्परा पर सबसे गहरी चोट की थी। टायनबी द्वारा सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हम अपनी संकुचित एवं संकीर्ण मानसिकता का परित्याग कर अपनी सभ्यता के अतिरिक्त दूसरी सभ्यताओं के इतिहास के प्रति अभिरुचि और सम्मान की भावना जागृत कर सकते हैं और सम्पूर्ण मानव–जाति के विकास की गाथा समझने की क्षमता का विकास कर सकते हैं।

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

पुनर्परीक्षण – फिर से जांच करना।

'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' – पश्चिम (पाश्चात्य सभ्यता) का पतन।

नियतिवाद – भाग्यवाद

'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री' – इतिहास का अध्ययन

4. 8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 4.3.1 प्राचीन भारतीय युग चक्रवादी सिद्धान्त
2. देखिए 4.4.1 स्पेंगलर का संस्कृतियों के उत्थान–पतन विषयक विचार
3. देखिए 4.5.5 टायनबी की रचनाए

4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

टॉयनबी, ऑर्नाल्ड, जे0 – *ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री*, 12 खण्ड, लन्दन, 1946

टॉयनबी, ऑर्नाड, जे0 – *क्रिश्चियैनिटी अमॉन्ग दि रिलीजन्स ऑफ़ दि वर्ड*, न्यूयॉर्क, 1956

श्रीधरन, ई0 – *ए टैक्स्ट बुक ऑफ़ हिस्टोरियोग्राफ़ी*, नई दिल्ली, 2013

कार, ई0 एच0 – *व्हाट इज़ हिस्ट्री*, लन्दन, 1962

कॉलिंगवुड, आर0 जी0 – *दि आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री*, लन्दन, 1978

टॉम्सन, जे0 डब्लू0 – *ए हिस्ट्री ऑफ़ हिस्टॉरिकल राइटिंग्स*, न्यूयॉर्क, 1954

4.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

वर्मा, लालबहादुर – 'इतिहास के बारे में', इलाहाबाद, 2000

शर्मा, रामविलास – 'इतिहास दर्शन', नई दिल्ली, 1995

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' के सन्दर्भ में स्पेंगलर के संस्कृतियों के उत्थान एवं पतन विषयक विचारों की समीक्षा कीजिए।
2. एक इतिहास–दार्शनिक के रूप में टायनबी का आकलन कीजिए।

इकाई – 1

उत्तराखण्ड के इतिहास के श्रोत्र : पुरातात्विक

1.1 प्रस्तावना

1.2 उदेश्य

1.3 उत्तराखण्ड के इतिहास के श्रोत्र : पुरातात्विक

1.3.1 प्राक् ऐतिहासिक श्रोत्र

1.3.2 उपकरण

1.3.3 शैलचित्र

स्व0 मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.4 आद्य ऐतिहासिक क्षोत्र

1.4.1 कप–मार्क्स

1.4.2 ताम्र संस्कृति

1.4.3 शवधान

स्व0 मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.5 सारांश

1.6 स्व0 मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1.7 सन्दर्भ गन्थ सूची

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

किसी भी स्थान विशेष, क्षेत्र, समाज व देश का इतिहास जानने के विभिन्न श्रोत होते हैं जो स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक कहीं भी किसी स्थान विशेष, घाटी, नदियों आदि से अन्वेषणकर्ताओं को प्राप्त होते रहते हैं जिनके माध्यम से सम्बन्धित क्षेत्र के इतिहास में नये अध्याय जुडते चले जाते हैं या नये

तथ्य सामने आते रहते हैं प्रारम्भ में उत्तराखण्ड के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक भ्रातियाँ इतिहासकारों के मन में थीं। जब अठकिन्सन ने उत्तराखण्ड के इतिहास पर एक वृहद काम सामने रखा तब काफी तथ्य उजागर हुए थे। परन्तु तब से लेकर वर्तमान तक उत्तराखण्ड के इतिहास में अनेक खोजें निरन्तर होते रही इतिहासकारों ने अपने–अपने आज स्तर से शोध एवं खोज जारी रखी तभी आज उत्तराखण्ड के इतिहास की प्राचीनता व उसकी महता सभी के सामने है जिन खोजों ने यह सिद्ध कर दिया कि यहाँ प्रारम्भ से ही मानव गतिविधियाँ अनवरत जारी थीं। जिसके अनेकों उदाहरण आज उपलब्ध हैं।

जैसा कि उपर कहा गया है किसी क्षेत्रीय या राष्ट्रीय इतिहास जानने के अनेक श्रोत होते हैं उन्हीं में से एक महत्पवूर्ण श्रोत पुराात्विक है। इस पुरातात्विक श्रोत के माध्यम से हम सम्बन्धित क्षेत्र या भू भाग में मानव गतिविधियों की प्राचीनता के साथ उसमें निवास करने वाले समाज के विविध आयामों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हैं पुरातात्विक सामग्री में अभिलेख व मुद्राओं के अतिरिक्त सामग्री के द्वारा तथ्यों का पता लगाने हेतु अनुमान ही आधार होता है जिस कारण कभी–कभी पुरातत्ववेताओं में मतभेद भी होते रहते हैं।

अतः यही पुरातात्विक श्रोतों के माध्यम से आप यहाँ उत्तराखण्ड इतिहास के नये–नये तथ्यों के बारे में पढ़ेंगे।

1.2 उदेश्य

- उत्तराखण्ड के पुरातात्विक श्रोतों का वर्णन।
- प्राक् एवं आद्य श्रोतों का उल्लेख।
- ऐतिहासिक एवं पुराभिलेखों का उल्लेख।

1.3 उत्तराखण्ड के इतिहास के पुरातात्विक श्रोत

किसी भी भू–भाग में मानव गतिविधियाँ व उसकी संस्कृति को जानने हेतू पुरातात्विक श्रोत ही मुख्य हैं जिन्हें काल क्रम या अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों में बाँट सकते हैं प्राक् ऐतिहासिक, आद्य ऐतिहासिक श्रोत, प्राक्–ऐतिहासिक काल में मुख्यतः पाषाण उपकरण, शैलचित्र या गुहाचित्र आदि हैं तथ्ज्ञा आध–ऐतिहासिक श्रोतों में कपमार्क्स (ओखल) ताम्र उपकरण, शवाधान् मृद्माण्ड हैं और ऐतिहासिक श्रोतों में पुराभिलेख, मुद्राओं, स्मारक–भवन व चित्रशैली आदि आते हैं आप उक्त पुरातात्विक श्रोतों के माध्यम से तत्कालीन मानव के रहन–सहन, भोजन, अभिरूचियाँ गतिविधियाँ, संस्कार, शिल्प आदि के बारे में विस्तार से जानकारी हासिल कर अनुमान लगा सकते है। क्योंकि पुरातत्व के क्षेत्र में अभी उत्तराखण्ड में बहुत कार्य

होना शेष है इसलिये आपका यहाँ यह समझना भी अवाश्यक है कि ज्यों–ज्यों विद्वानों द्वारा इस क्षेत्र में खोजें होते रहेगी नये–नये तथ्य सामने आते रहेंगे।

यहाँ अभी तक उपलब्ध या प्रकाश में आये पुरातात्विक श्रोतों का क्रमवार वर्णन किया जा रहा है जिनसे आप उत्तराखण्ड के समाज, संस्कृति, रहन–सहन, भोजन, शिल्प, कला के द्वारा परिवर्तन व उत्पति के साथ उस आदि मानव के विकास यात्रा को जान एवं समझ सकते हैं।

1.3.1 प्राक् ऐतिहासिक श्रोत

प्राक् ऐतिहासिक संस्कृति में हम देखते है कि आरम्भ में जब मानव ने पशुओं से भिन्न होकर चलना, भाव व्यक्त, छोटी–छोटी टोलियों में रहकर सामाजिक होते जा रहा था, उसी दौर में उसने प्रस्तर उपकरणों का आविष्कार भी किया था। क्योंकि कि अब वह शिकार व कन्द फल एकत्रित करने के स्थान पर पशुचारक व कृषक की श्रेणी में पहुँच चुका था। जिन उपकरणों के क्षेत्र में वह निरन्तर उत्तम किस्म के उपकरण भी बनाते चला गया, साथ ही जहां पर वह अब बसावत में रह रहा था विशेषकर नदी घाटियों में जहां पानी उपलब्ध था वहाँ उसने निकट गुफाओं आदि में अपनी अभिरूचियों को विभिन्न रंगों के माध्यम से शैल चित्रों में उकेरना प्रारम्भ किया जिन्हें यहाँ की नदी किनारे व घाटियों में पाया जाता है, इनके बारे में भी आप यहाँ पढगें।

1.3.2 उपकरण

यद्यपि इस क्षेत्र मे अभी अधिक कार्य नहीं हो पाया है फिर भी यत्र–तत्र प्रस्तर उपकरण प्राप्त हुए है। जिनसे आदि मानव के जीवन से कम ही सही हम परिचित हो रहे हैं। ये प्रस्तर उपकण यमुना घाटी में कालसी, अलकनन्दा घाटी में डाँग, स्वीत, जनपद अल्मोड़ा में पश्चिमी रामगंगा घाटी, जनपद नैनीताल में खुटानी नाला व गंगा द्वार (हरीद्वार) से प्रस्तर उपकरण प्राप्त हुए हैं। इनमें से गंगाद्वार उपकरण सोनघाटी से प्राप्त उपकरणों में समान माने गये हैं। उत्तराखण्ड में प्राप्त प्रस्तर उपकरणों को विद्वानों द्वारा फ्लेक वर्ग के अन्तर्गत रखा गया हैं इस वर्ग के निर्मित उपकरण मुख्यतः हथ कुठार, चौपर्स, क्षुर (छोटी कुल्हारी), स्क्रैपर्स (खुरचनी) छिद्रक, चीरक, छेनी, अनी, आदि। प्रस्तर निर्मित चौपर्स से शिलायें तोड़कर उन्हें इच्छानुरूप आकार प्रकार देना सरल हो गया था। किसी शिला को काटने या छीलने के लिय स्क्रैपर का निर्माण हो चुका था ऐसे ही स्क्रैपर्स सोन घाटी से भी प्राप्त हुए हैं। मांस, फल, फूल काटने के लिये वर्तमान गंडासे जैसा प्रस्तर निर्मित कर लिया था जिसके आगे की ओर पतलीधार व दाँत बने हैं तथा पीछे को

पत्थर मोटा व गोल है जो हथोड़े का काम भी करता था, मांस आदि काटने फाड़ने के लिए चीरक व किसी वस्तु में छेद करने को अनी भी निर्मित किया था अर्थात् आदिमानव अब प्राकृतिक रूप से प्राप्त शिलाखण्डों पर ही निर्भर न होकर उन्हें आवश्यकतानुसार उपकरण का रूप देने लग गया था। अतः अब वह पशुओं के जीवन से हटकर निर्माणकर्त्ता व खोजकर्ता की श्रेणी में आने गया था। ऐसा भी माना जाता है कि उत्तराखण्ड के आदि मानव ने लकड़ी व पशुअस्थियों से भी उपकरण बनाने आरम्भ किये थे जो लम्बी अवधि के कारण नष्ट हो गये। अतः उक्त कुछ प्रस्तर उपकरणों के आधार पर उस मानव के बारे में किसी प्रकार का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त प्रस्तर उपकरणों के अतिरिक्त शिव प्रसाद डबराल अपनी पुस्तक प्राग ऐतिहासिक उत्तराखण्ड में उत्तराखण्ड में प्रस्तर छुरिक संस्कृति का जिक्र भी करते हैं। वहादराबाद हरिद्वार से प्राप्त प्रस्तर छुरिकाओं का प्रयोग करने वाली एक बस्ती थी ढूढ़ने पर वहाँ आज भी ये छुरिकायें प्राप्त हो सकती हैं।

1.3.3 शैल चित्र (केव पेन्टिंग)

उत्तराखण्ड में गुहा चित्र या कला प्रतिमान अभी तक प्राप्त अगल अलग स्थानों से लगभग 68 स्थानों से प्राप्त हुए हैं उन 68 स्थानों में से मुख्य लखु उड्यार, फड़कानौली पेटशाल, फलसीमा, कसाड़देवी, ल्वेथाप, हटवाल घोड़ा जनपद अल्मोड़ा में ग्वारख्य उड्यार, किमनी जनपद चमोली तथा हुडली व ठडुंगा जनपद उत्तरकाशी में स्थित हैं डबराल के अनुसार इन शैलचित्रों को बनाने वाले स्वयं गुफा में नहीं रहते थे बल्कि गुफा के बाहर अन्य गुफा आदि में रहे थे। ऐसा अनुमान है कि जिन गुफाओं में अधिक ऊचाँई पर चित्र मिले हैं वहाँ तत्कालीन मानव ने सीढ़ियों का प्रयोग किया होगा इन शैलचित्रों के निर्माण में मुख्य रूप से काला, लाल, व सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। इनमें से कुछ गुहाचित्रों की विषय वस्तु का वर्णन आप यहाँ पढंगे–

लखुउड्यार

यहाँ उत्त्राखण्ड के सबसे उत्कृष्ट शैल चित्र पाये गये है। अल्मोड़ा पिथौररागढ़ मार्ग में दायीं ओर 16 किमी0 की दूरी पर सुयाल नदी के तट पर स्थित नदी को झाकंती यह गुफा है। धूप, वर्षा व ठंड से चित्र काफी धूमिल हो चुके हैं जिनमें सफेद गेरू या गुलाबी व काला रंग प्रयोग किया गया है चित्रण का मुख्य विषय सामूहिक नृत्य है साथ में दैनिक चर्चा के दृश्य, पशु व विभिन्न आलेखन हैं, जैसे सात नर्तक

वस्त्र और मुखौटा पहने हाथ वांध नृत्य कर रहे है। दो अलग अलग आकृतियों, मानव पंक्ति, पाँच दौड़ते बच्चे, लोमड़ी, नर्तकों के एक स्थान पर 34 व दूसरे स्थान पर 28 मानव गिने जा सकते हैं। लवादा या मुखौटा पहने हुए इन नर्तक मानव टोलियों को देख ऐसा लगता है कि कोई त्योहार, मेला, उत्सव हेतु ये इकट्ठा हुए हों, मानवों को जानवरों का पीछा करते दिखाये गया है। शिकारी सूअर, कुत्ता, ज्यामितिय आलेखन, मानव, यह दृश्य गुफा के फर्स से 15 मी0 की ऊँचाई तक स्थित हैं इतनी ऊँचाई में यह चित्रांकन सीढ़ी के माध्यम से या फिर वहाँ पर कोई पेड़ रहा होगा। उसकी मदद से किया गया होगा। इतने अधिक शैल चित्र मिलने के कारण लघु उड्यार को शैल चित्रों का संग्रहालय भी कह सकते हैं तथा उस समय के मानव को चित्रकला से अति प्रेम था।

फड़कानैली

फड़कानौली के गुफा चित्र लखुउड्यार से आधा किमी0 पहले स्थित हैं जो तीन गुफाओं में अवस्थित हैं। यहाँ भी 40 मानव आकृतियाँ, 20 संयोजन, मानव पांक्तियाँ, नर्तक टोलियाँ तथा दूसरी गुफाओं मे 10 हस्तवद्ध नर्तक दृश्य, पुष्प, तीसरी गुफा में लाल रंग से लिखी शंखलिपि आदि विद्यमान है परन्तु कोई देखरेख न होने से यह प्राचीन निधि धूमिल हो चुकी हैं।

पेटशाल

लखुउड्यार से 2 किमी0 की दूरी पर पेटशाल गाँव के ऊपर दो गुफाओं में शैलचित्र बने हुए हैं जो धूप वर्षा आदि कारणों से धूमिल हो चुके हैं। जिनमें चार महिलायें दो जानवरों की झाकंती, नीचे पंक्तिबद्ध नर्तक, लाबादा पहनें, मुखौटे पहने, आखेट दृश्य, ज्यामितीय आलेखन गवाक्ष आदि धूमिल अवस्था में स्थित हैं।

उक्त की तरह अल्मोड़ा से 8 किमी0 दूर फलसीमा व कसारदेवी तथा अल्मोड़ा से ही 3 किमी0 दूरी पर ल्वेथाप में भी विभिन्न गुहा चित्रों का अंकन प्राप्त होता है, जिनमें से अधिकांश धूमिल या नष्ट हो चुके हैं। अल्मोड़ा से 18 किमी0 की दूरी पर हटवाल घोड़ा में भी अनेक दृश्यों में सींगों का मुखौटा पहना मानव, वृषम, कपमार्क्स आदि देखे जा सकते हैं, जनपद नैनीताल में मंगोली के निकट भी शैलचित्र प्राप्त हुए हैं। जैसे वृषम की पीठ आदि शेष आकृतियाँ धूमिल हो चुकी हैं

ग्वारख्या उड्यार– जनपद चमोली में कर्णप्रयाग जोशीमठ मार्ग पर अलकनन्दा को झांकती चट्टान जो डुंग्री गांव से लगभग एक किमी0 की दूरी पर स्थित है इस जोखिम भरी चट्टान पर यशोधर मठपाल के अनुसार 41 आकृतियों में से 30 मानव व 2 पशुओं की हैं। चित्रकला की दृष्टि से जो उत्तराखण्ड की

उत्कृष्ट कृतियाँ हैं जिनके मुख्य विषय पशुओं को हांकना, भगाना व घेरना है, ध्यानावसाी में बैठा मानव उसकी दतछायां में तीन मानव आकृति जो अब अति धुधंली हो चुकी हैं।

इसी तरह व जनपद चमोली के कर्णप्रयाग ग्वालदमं मार्ग पर किमनी में भी गुहा चित्र प्राप्त हुए हैं मुख्यतः पशु कटार समान वस्तुओं की घूमिल आकृतियाँ उपस्थित हैं जनपद उत्तरकाशी के मसूरी यमनोतरी मार्ग पर पुरोला से पाँच किमी दूर यमुना घाटी के हुडली नामक स्थान पर जो सम्भवः लहरदार पुच्छयुक शंखलिपि का आलेख विद्यमान है यही ठडुंगा नामक स्थान पर भी तीन स्थानों पर काले रंग के आलेख प्राप्त हुए हैं।

उक्त गुहा चित्रों के बारे में डबराल का मत है कि जिस प्रकार मध्य भारत में शैल कला का क्षेत्र वेतवानदी का क्षेत्र प्रदेश है उसी प्रकार उत्त्राखण्ड में भारत में इस कला का मुख्य क्षेत्र सुयाल नदी का मुख्य क्षेत्र है क्योंकि सुयाल नदी के श्रोत क्षेत्र से गुफा चित्रों के अतिरिक्त कर्पमार्क्स बीरखम्भ आदि विशेष रूप से मिले हैं। चमोली और उत्तरकाशी जनपदों में गुहा चित्रों के मिलने से डबराल का यह अनुमान है कि संभवतः सुयाल नदी के चित्रकारों और चमोली उत्त्कारकाशी के चित्रकारों में संपर्क रहा होगा। यह भी विदित होता है कि लोग गाँवों में बसे थे चोगा पहनते थे। पशु पालते थे। संभवतः प्रारम्भिक कृषि से भी परिचित थे। आमोद प्रमोद करते थे। आग से भी परिचित थे इसलिये अंधेरी गुफाओं में उन्होंने गुहा चित्र बनाये, शायद आखेट से पेट भरने वाली संस्कृति से आगे बढ़ चुके थे।

तुलनात्मक साक्ष्यों के दृष्टिकोण से उत्तराखण्ड के गुहाचित्र मध्य प्रस्तर युग से उत्तर प्रस्तर युगीन संस्कृति से सम्बन्धित माने गये हैं कुछ महा महापाषाणीय संस्कृति से सम्बन्धित, मठपाल के अनुसार कुछ महापाषण काल से भी प्राचीन हो सकते हैं। परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त ही इनका सही काल निर्धारण हो सकता है।

इस कला हेतु शैल कलाकारों ने उच्चस्थल जहाँ पर्याप्त धूप व हवा मिल सकती हो। और निर्माण में प्राकृतिक रंग गेरू, सफेद व काला रंग अधिक प्रयोग किया है, अधिकांश दुर्गम स्थान ही इस कला हेतु चुने गये मुख्य विषय सामूहिक नृत्य, दृश्य, पहनावे में लम्बा लबादा और मुखौटे, पशुओं को हाँकती महिला एवं पुरूष, वृक्ष, त्रिशूल, स्वास्तिक, सर्प, मानवपदचिन्ह, टोकरी आदि को दिया गया है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ?

   (क) प्राक ऐतिहासिक काल

(ख) उपकरण

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए ?

(क) लखुउड्यार शैलचित्र

(ख) ग्वारख्या उड्यार

1.4 आद्य ऐतिहासिक श्रोत

चौथी–तीसरी शताब्दी ई0पू0 से सातवीं शदी ई0पू0 तक फैले प्रागैतिहासिक युग के अन्तिम खण्ड को आद्य ऐतिहासिक काल के नाम से जाना जाता है। कठोच के अनुसार भारत के किसी भाग में उस युग की प्रारम्भिक सीमा सातवीं शताब्दी ई0पू0 तो किसी भाग में चौथी शताब्दी ई0पू0 स्पष्टताः ऐतिहासिक काल से पूर्व चौथी–तीसरी शताब्दी तक आध ऐतिहासिक युग कहलाता है। वास्तविक रूप में इसी काल में सभ्यताओं का श्रीगणेश हुआ था एक तरह से प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक काल के मध्य संक्रमण का काल था परन्तु लिखित प्रमाण नहीं हैं।

अन्य ऐतिहासिक श्रोत्रों में हम मुख्यतः कप मार्क्स, ताम्र संस्कृति, शवसधान, मृदग्ण्ड, ग्राम नगर, पशुपालन, लिपि आदि को रखा जा सकता है, जिनसे इस भू–भाग में तत्कालीन मानव संस्कृति व उसका विकास स्पष्ट रूप से हम समझ सकते हैं।

1.4.1 कप मार्क्स

उत्तराखण्ड में कप–मार्क्स जैसी पुरातत्वीय सामग्री मिलने के कारण इस भू–भाग में मानव संस्कृति का विकास अधिक रूप से स्पष्ट होता है ये कला प्रतिमान उत्तराखण्ड के विशाल भूखण्डों व चट्टानों पर जगह–जगह ऊखल नुमा गहरे गढ़ढे पाये गये हैं जिन्हें पुरातत्व विज्ञान की भाषा में कप–मार्क्स कहा जाता है। इनके काल निर्धारण के प्रमाण न होने के कारण कुछ पुरातत्व वेत्ता इन्हें महापाषाणीय संस्कृति के अवशेष मानते हैं, रिवेट कारनाक ने इन्हें यूरोप में प्राप्त शैल चित्रांकन के समरूप माना है।

यहाँ से प्राप्त कप–मार्क्स मुख्य रूप से देवीधुरा, बग्वालीपोखर, बाड़ेछिना, चम्द्रेश्वर, देवलीधार, जसकोट, हल्द्वानी, नौला, मुनिया की ढाई तथा गढ़वाल क्षेत्र में गोपेश्वर के निकट मण्डल व पश्चिमी नयार घाटी के ग्वाड़ नामक स्थान में ओखली प्राप्त हुई है।

जनपद अल्मोड़ा में बग्वाली पोखर के निकट सकुन गाँव के पश्चिम में चट्टान पर से एक स्थान पर पाँच व एक स्थान पर 41 तीन सयोजनों में उत्कीर्ण है। पहले व दूसरे में 18–18 तथा तीसरे में पाँच

उत्कीर्ण हैं इसके समीपवर्ती चट्टानों में भी इसी तरह के सपुंजन उत्कीर्ण हैं। बाड़ेछीना के निकट चट्टान में छोटे आकार के 37 कप–मार्क्स सपुंजन में उत्कीर्ण हैं। एक अन्य चट्टान में पाँच कप–मार्क्स के साथ त्रिशूल व स्वास्थिक भी उत्कीर्ण हैं इसी तरह द्वाराहाट के समीप चांचरी धार में भी छोटे–बड़े कप–मार्क्स माला के मनकों के रूप में खोदे गये हैं इसी पहाड़ी के समीप चन्द्रेश्वर शिववालय के आसापास भी कप–मार्क्स है जहाँ एक चट्टान में तो 200 कप–मार्क्स पंक्तिबद्ध है इन पंक्तिबद्ध कप–मार्क्स को देखकर ऐसी सम्भावना व्यक्त की जाती है कि कभी यहाँ बरसात रही होगी। मठपाल के अनुसार ढालू चट्टानों में पंक्तिबद्ध इन उथले गढ़ढों के निकट रोमन अक्षर भी खुदे मानते हैं चन्द्रेश्वर के इन कप–मार्क्स का वर्णन पुरातत्वविद रिवेट कर्नाटक ने भी किया है।

द्वाराहाट आरम्भ से ही विख्यात रहा है यहाँ से 18 किमी0 पश्चिम में मुनिया की ढाई भी विभिन्न कला प्रतिमानों के लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है। यहाँ एक विशाल शिलाखण्ड पर सात ऊखल उत्कीर्ण है आठवाँ अर्द्धभग्न है सम्भवतः कुल ऊखलों की संख्या ग्यारह थी ऐसे ही यहाँ 14, 30 तथा 20 उथले गढ़ढे कप–मार्क्स विद्यमान है। इसी तरह रानीखेत कफड़ा मार्ग में 2, रानीखेत या मकड़ा गाँव के जंगल में, जालली के निकट जोयो ग्राम के निकट 11 ऊखल विद्वमान हैं मुनियां की ढाई की दूसरी पहाड़ी 22 ऊखल एक साथ एक स्तम्भ में हैं नौला देवी मंदिर के प्रांगड में गोलाकार चट्टान पर 72 कप मार्क्स उत्कीर्ण हैं। नौला में कपमार्क्स के अतिरिक्त ताबूत व महापाशाणी स्तम्भ आदि को देखकर लगता है रामगंगा के तट पर बसा यह क्षेत्र पुराषाषाण महत्व का है।

बेतालघाट के निकट अमेल गाँव के जंगलों में भी कई जगह कप–मार्क्स खोदे गये हैं। 1965 में देवीधुरा में कपमार्क्स जे0 डब्लू हेवउड ने खोजे थे। एक जगह तीन एसे ही अलग–अलग स्थानों पर भी कपमार्क्स पाये गये हैं। यहाँ प्रत्येक वर्ष रक्षा बन्धन पर पाषाण युद्ध होता है। जिसे देवीधुरा की बग्वाल के नाम से जाना जाता है। इसी तरह देवीधुरा शहरफाटक मार्ग पर जसकोट, तथा खैंकण, सिमतटी, दयोलीजंडा, कालामाटी व बग्वाली पोखर में भी कप–मार्क्स खोजे गये हैं। ऐसे ही फल सीमा, ल्वेथाप, दीनापानी व पढ़ियादेव आदि के निकट भी कपमार्क्स खोजे गये हैं।

इसी प्रकार गढ़वाल में गोपेश्वर के निकट मण्डल तथा पश्चिमी नयार घाटी में ग्वाड़ गुप्तीगढ़ (उत्तरकाशी) जैबाई, जोप्यों तथा मतकुण्डा (पौड़ी) में भी कप मार्क्स प्राप्त हुए हैं।

उक्त शैल कला से यह स्पष्ट होता है कि मध्य हिमालय में इतिहास पूर्व अर्थात् आद्य इतिहास की कला मौजूद थी परन्तु विधिवत उत्खनन और पुरातात्विक सर्वेक्षण के अभाव में इनका काल निर्धारण करना मुश्किल है, मठपाल के अनुसार फिर भी निष्कर्ष के तौर पर कुछ कह सकते हैं।

कुछ लोग दुर्गम स्थान व चट्टानों पर बने कपमार्क्स का सम्बन्ध उत्तर प्रस्तर कल्प से जोड़ते हैं तथा कोई प्राचीन लिपि बतलाते हैं किन्तु इनका सम्बन्ध उत्तर प्रस्तर कल्प से जोड़ना सर्वथा आपत्तिजनक

है। डबराल व कुछ विद्वान इन कपमार्क्स को नवाश्मयुगीन (नीयोलिथिक) होने की समावना व्यक्त करते हैं क्योंकि दक्षिण भारत में इस प्रकार के पुरात्वशेष नवाश्म युगीन संस्कृति के बताये जाते हैं अतः आद्य ऐतिहासिक काल में घुमन्तू मानव समाज ने इनको उत्कीर्ण कब तथ्ज्ञा किस उदेश्य से किया होगा निश्चित ज्ञात नहीं है।

1.4.2 ताम्र संस्कृति (Copper Hoard Culture)

उत्तराखण्ड में ताम्र संस्कृति अति प्राचीन मानी गई है। मुख्यतः यह संस्कृति उपरी गंगा घाटी में पाई गई है। जिसका उदाहरण है हरिद्वार से लगभग 13 किमी0 पश्चिम में बहादराबाद से प्राप्त ताम्र उपकरण जैसे बेंट व मीना बेंट के भाले (Larpoons) कुल्हाड़ियां तलवारें भालों की कुन्देवाली नौकें तथा कड़े (Rings or Bangles) आदि परन्तु यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि उस सभ्यता के लोग इनका उपयोग किस प्रकार करते थे इन ताम्र उपकरणों के साथ गैरिक भाण्ड सदृश 'लोहित मृद्भाण्ड' (Red ware) भी प्राप्त हुए थें कुछ विद्वान इन उपकरणों को नर्मदा तथा गोदावरी घाटियों से प्राप्त पौटरी के समरूप मानते हैं।

उक्त प्रकार के ताम्र उपकरण उत्तर प्रदेश के राजापुर, परसू फतेहगढ़ विठूर परिथार बिसौली, सरथोली तथा शिवराजपुर से भी प्राप्त हुए हैं तथा उत्तर प्रदेश से बाहर विन्ध्यप्रदेश, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा से भी प्राप्त हुए हैं।

कठोच के अनुसार उत्तराखण्ड का पाद प्रदेश नसीरपुर अम्बखेड़ी जिला सहारनपुर व राजपुर परसु जिला बिजनौर से भी वहादराबाद की तरह के ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं जो वर्तमान में गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार) के संग्रहालय में संग्रहित हैं।

एक ताम्र उपकरण जनपद अल्मोड़ा (1986) तथा आठ ताम्र उपकरण जनपद पिथौरागढ़ के बनकोट से प्राप्त हुए थे बनकोट में प्राप्त ताम्र उपकरण वर्तमान में राजकीय संग्रहालय अल्मोड़ा में हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें 'यसीय कुठार' तथा म0प्र0 जोशी ने अनुष्ठान में प्रयुक्त परशु– पुरूष माना है डी0 शर्मा इन्हें मानवकृति नहीं मानते हैं ये इन्हें ताम्र उपकरण संस्कृीत के नये 'स्कंन्धित कुठार' मानते हैं।

इस प्रकार के उपकरण अन्तर्वेदी में शिवराजपुर तथा विसोल में भी मिले हैं कुछ विद्वान इन्हें गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति के समकालीन मानकर इनका काल 2800 ई0 पू0 तथा 1600 ई0 पू0 के मध्य मानते हैं।

विचारणीय प्रश्न है कि उस सभ्यता के लोग इनका क्या उपयोग करते थे क्या ताम्र खदानों में प्रयोग होते थे पर इनके आकार प्रकार से ऐसा लगता नहीं है इस ताम्र मानवाकृति (Copper-

anthropomorphs) के उपकरणों से क्या करते थे अभी विद्वान अनभिज्ञ हैं, इतना निश्चित है कि ताम्र संस्कृति के निर्माता उत्त्राखण्ड में ही थे क्योंकि ताम्र खनन के दर्जनों स्थान यहाँ स्थित है। जो कार्य मुख्यतः आगरी या टमट जाति के लोग करते थे। अभी तक उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इस संस्कृति के निर्माता व इसका काल अध–ऐतिहासिक काल के आरम्भिक चरण को माना गया है।

1.4.3 शवाघान

उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानों से महापाषार्णाय शवाघान भी खोजे गये है जिनमें सर्वप्रथम 1956 में शिवप्रसाद द्वारा मलारी में खोजे गये थे, 1948 में किन्नौर (हि0प्र0) के लिप्पा गाँव में राहुल द्वारा तथा यशोधर मठपाल द्वारा जिला अल्मोड़ा में पश्चिमी रामगंगा घाटी नौला जैनल आदि गाँवों में भी शवाघान खोजे गये। नीति घाटी में स्थित मलारी के शवाघान मण्डलाकार हैं तथा शवों के चारों ओर अनगढ़ शिलायें खड़ी कर उसे बड़े–बड़े पटालों से ढका गया था। शवाघानों में मनुष्य, घोड़ों, मेढ़ों के कंकालों के साथ सिर के निकट मृतिका पात्र तस्त्ररियाँ, टोंटी व कुतुप थे कुतुपों पर चमकदार पोलिस व हत्थे पर मोनाल का चित्र बना है शवों को घुटने मोड़कर औंधा लिटाया गया था जिन्हें विद्धान किसी पशुचारक जाति की समाधियाँ मानते हैं इस तरह के उदाहरण 2000ई0पू0 ईरान, अफगानिस्तान व मध्य एशिया के देशों में पाये गये हैं।

उक्त मृतिका शवों के अतिरिक्त लौह उपकरण, पशु कंकाल, कुत्ते, बकरी व भेड़ आदि भी पाये गये हैं। इसी तरह नौला जैनल के शवाघानों से यह पता चलता है कि यह लोग कृषि व पशुपालन जीवी थे। जो लगभग ढाई–तीन सौ वर्ष पूर्व यहाँ रहते थे। यहाँ के शवाधानों को शिस्ट बरिअल तथा अर्न बरिअल कहा गया है। इन शवों के साथ मलारी की तरह विभिन्न मृतिका पात्र चित्रित मृद्भाण्ड या लाल रंग के हैं इन स्थलों के अतिरिक्त भी जिला अल्मोड़ा में इस महापाषाणीय संस्कृति के उदाहरण मौजूद हैं।

यद्यपि अभी इन शवाधनों का विस्तृत परीक्षण होना है फिर भी इन्हें महासंस्कृति का प्रतीक माना गया है जो खशों की संस्कृति थी क्योंकि द्वितीय शताब्दी ई0पू0 मध्य हिमालय खशों की अनेक जातियों का केन्द्र था।

इस महासंस्कृति के पश्चात् उत्तराखण्ड में चित्रित धूसर मृदमाण्ड का समय माना गया है जो अलकनन्दा घाटी, काशीपुर रामगंगा घाटी व पुरोला से प्राप्त हुए हैं इस चित्रित घूसर मृदमाण्ड संस्कृति को विद्धान महाभारतकालीन आर्यों के साथ जोड़ते हैं जिसका काल प्रथम शताब्दी ई0 पू0 माना जाता है।

उक्त पुरातात्विक श्रोतों के अतिरिक्त ऐतिहासिक श्रोत भी उत्तराखण्ड पर प्रकाश डालते हैं जिनमें मुख्यतः पुराभिलेख, मुद्रायें, स्मारक तथा कलाकृतियाँ, समकालीन आकृति चित्र, रेखाचित्र, कलात्मक चित्र व शासनादेश आदि।

पुराअभिलेख में शिलाओं, शक्तिस्तम्भों, प्रतिमाओं, ताम्रपत्रों आदि में उत्कीर्ण पुराभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं इनमें तिथि अंकित होने पर अति विश्वसनीय हो जाते हैं, अभिलेखों की श्रृखंला में अशोक का कालसी शिलालेख प्राचीनत है फिर त्रियुगी नारायण विष्णुमूर्ति लेख, गोपेश्वर तथा बाड़ाहाट के शक्तिस्तम्भ लेख, पाण्डुकेश्वर, कण्डारा वालेश्वर, बागेश्वर आदि सीानों से भी शिलालेख प्राप्त हुए हैं। चन्द व पंवार शासकों के अनेक ताम्रपत्र भी महत्व के हैं।

उत्तराखण्ड से बाहर प्राप्त अभिलेख भी यहाँ के महत्वपूर्ण श्रोत सिद्ध हुए हैं जैसे भरहुत दानलेख, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा बोधगया का शिलालेख अादि।

उक्त की तरह मुद्रायें भी महत्वपूर्ण श्रोत हैं जिन्हें मुद्रा लेख कह सकते हैं प्राप्त मुद्राओं में कुणिन्द, यौधेय, कुषाण स्वर्ण मुद्रा, चन्द व पंवार राजवंशो की मुद्रायें आदि। स्मारक व कलाकृतियाँ भी महत्वपूर्ण श्रोत हैं, इष्टका–चितियों (Brick Altars), काष्ठमंदिर, देवप्रतिमायें, गढ/कोट (कोट/आदि।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ?
   (क) कप मार्क्स
   (ख) ताम्र संस्कृति

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए ?
   (क) शवाधान
   (ख) नौला जैनल

1.5 सारांश

इतिहास किसी भी समाज, समुदाय व देश की विकास यात्रा का एक समुचित लेखा जोखा होता है। उस विकास यात्रा के इतिहास को जानने के विभिन्न श्रोत होते हैं जिनके माध्यम से हम उस समाज के विविध आयाम तलाश सकते हैं।

परन्तु यहाँ हमने उत्तराखण्ड के इतिहास जानने के विभिन्न क्षेत्रों में से सिर्फ पुरातात्विक क्षेत्रों को जानने का प्रयास किया है जिनके माध्यम से हमें उत्तराखण्ड में मानव गतिविधियों की प्राचीनता के बारे में जानकारी हासिल होती है। इन पुरातात्विक श्रोत्रों के भी विविध प्रकार हैं उन्हीं को यहाँ जानने का प्रयास किया गया है।

सर्वप्रथम हमें प्राक ऐतिहासिक श्रोत्रों के रूप में विभिन्न स्थानों से अनेक उपकरण प्राप्त हए हैं जिनका निर्माण मानव अपनी आवश्यकतानुसार करते चला गया, जो कला व विकास के साथ निर्मित होते गये जैसे प्रस्तर उपकरण, काष्ठ उपकरण पशुअस्थितयों निर्मित उपकरण तथा धातु उपकरण आदि परन्तु कुछ उपकरणों के आधार पर उस मानव के बारे में किसी प्रकार का निश्चित अनुमान लगाना सम्भव नहीं है इसी प्रकार प्राक् ऐतिहासिक श्रोत्र का दूसरा महत्वपूर्ण श्रोत्र शैल चित्र हैं। ये उत्तराखण्ड के अनेक स्थानों में बिखरे पड़े हैं जो संरक्षण व सवर्द्धन न होने के कारण निरन्तर नष्ट होते जा रहे हैं यह शैल चित्र उत्तराखण्ड के लगभग 68 स्थानों से प्राप्त हुए हैं। ऐसे ही शैल चित्र उत्तराखण्ड से बाहर भी प्राप्त हुए हैं जिनसे इनकी वसासत वेशभूषा, कृषि व्यवस्था, आखेट व आमोद प्रमोद आदि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है तथा पेट भरने वाली संस्कृति से कोसों आगे बढ़ चुके थे। इन शैल चित्रों को मध्य प्रस्तर युग से उत्तर प्रस्तर युगीन संस्कृति से सम्बन्धित माना गया है परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त ही सही काल निर्धारण हो सकता है।

उक्त की तरह आद्य ऐतिहासिक श्रोत्रों में कपमार्क्स, ताम्र संस्कृति और शवाघान, मृद्माण्ड और लिपि आदि हैं चौथी शताब्दी ई0पू0 से सातवीं सदी ई0पू0 तक फैले प्राग ऐतिहासिक युग के अंतिम खण्ड को आद्य ऐतिहासिक काल के नाम से जाना जाता है माना जाता है कि इसी काल में सभ्यताओं का विकास हुआ था इसे संक्रमण काल भी कहा जाता है।

उक्त कपमार्क्स उत्तराखण्ड के विशाल भूखण्डों व चट्टानों पर जगह–जगह ऊखल नुमा गढ़ढे पाये गये हैं पर पुरातत्व विज्ञान की भाषा में इन्हें कपमार्क्स कहते हैं काल निर्धारण न हो पाने के कारण कुछ विद्वान इन्हें महापाषाणीय संस्कृति के अवशेष तो कुछ यूरोप में प्राप्त शैल चित्रांकन के स्वरूप मानते है इनके प्राप्ति स्थान कुमाऊँ में देवीधुरा, बग्वाली पोखर, बाड़ेछिना, देवलीधार, व हल्द्वानी तथा गढ़वाल मण्डल में पश्चिमी नयार घाटी आदि हैं। इन शैल फलन से यह स्पष्ट है कि मध्य हिमालय में आद्य इतिहास की कला मौजूद है कुछ इन्हें उत्तर प्ररस्त काल से तो कुछ नवाश्मयुगीन नीयोलिथिक बताते हैं। परन्तु विधिवत

ऊखनन व पुरातात्विक सर्वेक्षक के अभाव में इनका काल निर्धारण सम्भव नहीं है ना ही इनके निर्माण उदेश्य के बारे में कुछ कह सकते हैं।

उत्तराखण्ड की ताम्र संस्कृति भी अति प्राचीन मानी गई है शैल चित्र, कप मार्क्स की तरह यह भी जगह जगह से प्राप्त होते हैं प्राप्त विभिन्न ताम्र उपकरणों के बारे में यह स्पष्ट नहीं है कि उक्त सम्भता के लोग इनका किस प्रकार उपयोग करते होंगे। विशेषकर मानवाकृति उपकरणों से क्या करते होंगे, इतना निश्चित है कि ताम्र संस्कृति के निर्माता उत्तराखण्ड में थे तथा इसका काल आद्य ऐतिहासिक काल के आरम्भिक चरण को माना गया है।

विभिन्न स्थानों से प्राप्त शवाघानों के बारे में यह सम्भवना व्यक्त की गई है कि किसी पशुचारक जाति की समाधियाँ थी इन शवागारो में मुख के निकट विभिन्न मृतिका पात्र तथा मुख्यतः कुत्ते, बकरी, व भेड़ आदि के कंकाल भी पाये गये हैं यह पशुपालन जीवी लोग यहाँ ढाई तीन सौ वर्ष पूर्व यहाँ रहते थे यद्यपि अभी इनका व्यापक अध्ययन होना है फिर भी इन्हें मध्य संस्कृति का प्रतीक माना गया है इस चित्रित घूसर मृदमाण्ड संस्कृति को महाभारत कालीन आर्यों के साथ भी जोड़ा जाता है।

1.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.3.1 प्राक् ऐतिहाकिस श्रोत
   (ख) देखिए 1.3.2 उपकरण

2. (क) देखिए 1.3.3 शैलचित्र
   (ख) देखिए 1.3.3 शैलचित्र का उपभाग

इकाई 1.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.4.1 कप मार्क्स
   (ख) देखिए 1.4.2 ताम्र संस्कृति
2. (क) देखिए 1.4.3 शवाधान
   (ख) देखिए 1.4.3 शवाधान

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डबराल, शिवप्रसाद : प्राग ऐतिहासिक उत्तराखण्ड, नवयुगान्तर प्रेस शारदा रोड मेरठ, संवात् 2055 वि0.
2. पाण्डे, बदरी दत्त : कुमाऊँ का इतिहास अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, 1990
3. अठकिन्सन : ईटी. हिमालयन गजेटियर : भाग 1, 2 लो प्राईस पब्लिकेशन दिल्ली, 2002.
4. कठोचः यशक्त सिंह : उत्तराखण्ड नवीन इतिहास, : विस्तर पब्लिकेशन कम्पनी, देहरादून 2010.
5. जोशी : एम0 पी0 : उत्तराखण्ड कुमाऊँ गढ़वाल हिमालय अल्मोड़ा बुक डिपो अल्मोड़ा 1996.
6. मिश्रा : एन. एन : सोर्सोज मैटीरियल आफ कुमाऊँ हिस्ट्री अल्मोड़ा.
7. पाठक : शेखर, पहाड़ – 3–4 1989, नैनीताल.
8. मठपाल : यशोधर : उत्तराखण्ड शैलश्रथी कला : (शरद नन्दा) 2001 नैनीताल.
9. पाठक शेखर : पहाड़ – 2 नैनीताल, 1986.

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के पुरातात्विक श्रोत्रों पर एक लेख लिखिए ?
2. शैलचित्रों का उल्लेख कीजिए ?
3. उत्तराखण्ड के आद्य ऐतिहासिक श्रोत्रों पर लेख लिखिए ?
4. कप मार्क्स का उल्लेख कीजिए ?
5. उत्तराखण्ड के पुरातात्विक श्रोत्रों पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिए ?

इकाई दो– उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोतः साहित्यिक

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 उत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यिक स्रोतः भाग–एक

2.3.1 वैदिक

2.3.2 महाकाव्यकालीन (महाभारत, रामायण)

2.3.3 पुराण

2.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यिक श्रोतः भाग–दो

2.4.1 सामान्य इतिहा

2.4.2 यात्रा इतिहास

2.4.3 स्थानीय/समकालीन

2.5 सारांश

2.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

हिमालय में हमारे पूर्वजों ने शैलचित्र, कपमार्क्स, मृदमाण्ड, शिलालेख, ताम्रसंस्कृति व स्मारकों के बाद साहित्य– मौखिक एवं लिखित दोनों रूपों में सुरक्षित रखना आरम्भ किया, विभिन्न काव्य–कथाओं में हिमालय का वर्णन मिलता है यद्यपि उतना गहना चित्रण नहीं है। प्राचीन ऋषियों के हिमालय तथा निवास के संदर्भ मिलते हैं, बुद्ध, शंकराचार्य ऋषभदेव, मणिपद्म, ईसामसीह, गुरुनानक, गोरखनाथ, जैसुईट फादर्स और विवेकानन्द तक हिमालय और हिमालय पार तक की यात्रायें जुड़ी हैं। पाण्डवों का हिमालय आगमन प्रख्यात है। हिमालय को अब तक कालिदास से अधिक प्रखर तरीके से किसी ओर ने परिभाषित नहीं किया है। मिलालय के इसी आकषर्ण ने ऋषियों, कवियों, धर्मप्रचारकों को ही नहीं सामान्य जनों को भी बुलावा दिया।

यहाँ विभिन्न समाजा संस्कृतियों का आमगमन और नसाब पिछले दो हजार से अधिक वर्षों में विकसित होता गया है। अन्ततः यही सालों की विकास यात्रा कम ही सही साहित्य के रू‍ में विकसित हो सकी।

उक्त सन्दर्भ में आप यहाँ पढ़ेगें कि किसी भी क्षेत्र विशेष के इतिहास को जानने के जो विभिन्न स्रोत होते हैं उन्हीं में से एक महत्वपूर्ण स्रोत साहित्यिक है, यह बात उत्तराखण्ड के सन्दर्भ में भी लागू होती है। प्राचीनतम भारतीय साहित्य लेकर समकालीन साहित्य में उत्तराखण्ड का इतिहास विचित्र है। इन साहित्यिक श्रोतों को हम विभिन्न भागों में बाँट सकते हैं। जैसे धार्मिक साहित्य व उसके उपभाग– वैदिक या ब्राह्मण साहित्य, समकालीन साहित्य, पुराण विदेशी साहित्य, यात्रा वृतांत स्थानीय व समाकालीन साहित्य आदि जिनके माध्यम से आप उत्तराखण्ड की ऐतिहासिक प्राचीनता को जान व समझ सकते हैं।

2.2 उद्देश्य

- साहित्यिक श्रोतों की ऐतिहासिक प्राचीनता का उल्लेख
- भारतीय प्राचीनतम साहित्य में उत्तराखण्ड का चित्रण
- सामान्य साहित्य में उत्तराखण्ड

2.3 उत्तराखण्डउत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यिक श्रोतः भाग–एक

अब आप यहाँ उत्तराखण्ड के धार्मिक साहित्यक स्रोतों के बारे में पढ़ेगें। इनमें मुख्यतः प्राचीनतम श्रोत ऋग्वेद है फिर शतपथ ब्राह्मण, पुराण, महाकाव्य आदि में ऐसा चित्रण मिलता हे जिसमें यहाँ की प्राचीनता, इतिहास, समाज, संस्कृति अभिव्यक्त होती है। उत्तराखण्ड से सम्बन्धित साहित्य में सम्पूर्ण मध्य हिमालय के नृवंशीय अध्ययन हेतु अकूत सामग्री उपलब्ध है। महाभारत के विभिन्न पर्वो में यहाँ के भूगोल, इतिहास, धर्म अर्थ आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध है। वहीं दूसरी ओर मुख्यतः उत्तराखण्ड पर केन्द्रित मानसखण्ड व केदारखण्ड नामक दो स्थानीय पुराण उपलब्ध हैं जिन्हें कुछ विद्वान स्कन्द पुराण के अन्तर्गत मानते हैं। इसके अतिरिक्त बौद्धों के पालि साहित्य में भी उत्तराखण्ड का चित्रण है।

अतः उपलब्ध धार्मिक साहित्य में यहाँ की जाति, धर्म, संस्कृति, समाज आदि का समुचित मूल्यांकन कर अनेक तथ्य सामने आ सकते हैं। जिस पर अनेक विद्वान अपने–अपने स्तर से काम कर चुके हैं या कर रहे हैं।

2.3.1 वैदिक

यदि हम आद्य इतिहास की जानकारी हेतु पुरातात्विक प्रमाणों को मुख्य मानते हैं तो दूसरी ओर साहित्यिक प्रमाण भी कम महत्व के नहीं है। वशर्ते उनका आलोचनात्मक विश्लेषण हो, सौभाग्य से हमें उत्तराखण्ड या मध्य हिमालय के साहित्यिक श्रोत उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के अनुसार आर्य लोग पाँच समूहों में विभक्त थे इनमें से एक समूह पुरुवंशी जिसको बाद में कुरुवंशी या भरतवंशी भी कहा गया थे इन्हीं में से एक राजा त्रित्सु मध्य हैमवत का शासक था इसी मध्य हैमवत में सम्भवतः कूर्मान्चल व गढ़वाल सम्मिलित थे, हिमालय की धार्मिक पवित्रता को देखते हुए इसे विभिन्न ग्रन्थों में हिमालय, हैमवत, हेमाद्रि, हिमगिरि, हेमवन्त व गिरिराज आदि नामों से वर्णित किया गया है वैसे इसका वैदिक नाम सुमेरू या मेरूमाना माना जाता है। ,

वैदिक साहित्य में ही आप उत्तराखण्ड का उल्लेख उशीनगर प्रदेश के नाम से भी पाएगें। सम्भवतः यमुना से गंगा अर्थात गंगा से काली तक का क्षेत्र उशीनगर कहलाता था। ऋग्वेद में भी उत्तराखण्ड का नाम उशीनगर भी मिलता हे।

ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है जिसमें सप्तसिन्धु प्रदेश व सरस्वती की कठिन पहाड़ियों में आर्यों की वस्तियों का वर्णन किया गया है। सरस्वती व सरस्वती की कठिन पहाड़ियों में आर्यों की बस्तियों का वर्णन किया गया है। सरस्वती के अतिरिक्त गोमती व सरयू का उल्लेख भी मिलता है। साथ ही विद्वानों का यह भी मत है कि सम्भवतः आर्यों के आगमन तिब्बत से सतलज के उद्गम स्थान के मार्ग से होकर कुमाँऊ गढ़वाल से इन्द्रप्रस्थ की ओर हुआ था। रावर्ट शंकर के अनुसार मेरू पर्वत व मानसरोवर क्षेत्र को आर्यों का पितृकुण्ड मानकार वहॉ से कुछ उत्तर–पश्चिम क्षेत्र में दक्षिणी ढालों पर बसने

तथा कुछ ईरान की ओर गये थे। ऋग्वेद में इस प्रकार के वर्णन के आधार पर कुछ विद्वान आर्यो का मूल स्थान गढ़वाल मानते हुए सप्तसिन्धु को गढ़वाल में बहती सात नदियों को माना है अतः सरस्वती उत्तर कुरू अर्थात मध्य हिमालय की वर्तमान सरस्वती है और सप्तसिन्धु प्रदेश अलकनन्दा का प्रवाह क्षेत्र है। कठोच के अनुसार ऋग्वैदिक काल में जिस सप्त सिन्धव एवं सरसस्वती के उच्च कांठों में आर्यों एवं दासों में घोर युद्ध हुआ जहाँ से भरतजनों का मध्य की ओर संक्रमण हुआ तथा उत्तर कुरू एवं दक्षिण–सरस्वती की कल्पना की, वह प्रदेश हिमवंत अर्थात मध्य हिमालय था जो वर्तमान उत्तराखण्ड तथा उसका पड़ोस ही है परन्तु इन मतों से अधिकांश विद्वान सहमत नहीं हैं।

एतरेय ब्राह्मण में उत्तर कुरू को 'हिमवन्त' के पार परेण हिमवंत अर्थात उत्तर दिशा के एक पवित्र देश के रूप में वर्णित किया है परेण हिमवंत अधिकांश उत्तर कुरू हिमालय के उत्तर में फैला है जब कि दक्षिणी छोर कुमाँऊ–गढ़वाल हिमालय तक फैला है। उत्तर वैदिक काल में जब आर्यों का आगमन उत्तर कुरू के हिमवंत क्षेत्र से दक्षिण में कुरूक्षेत्र में हुआ तब उन्होंने ऋग्वेदीय सरस्वती को यहाँ भी आहूत किया था इस भू–भाग को कुरू या कुरू जाडल नाम दिया, ऐतरेय ब्राह्मण तथा कोषीतकि उपनिषद में उशीनगर को कुरू पांचालों और वंशजों का पड़ोसी बताया गया है। गोपथ ब्राह्मण में उशीनगर उत्तरीक्षेत्र के रहने वाले बताये गये हैं।

इस प्रकार हम कह सकते है कि प्राचीनतम वैदिक साहित्य का मुख्य ग्रन्थ ऋग्वेद आदि में मध्य हिमालय अर्थात उत्तराखण्ड का जो वर्णन मिलता है उससे यह ज्ञात होता हे कि वैदिक काल से इस क्षेत्र में आर्यों का आगमन शुरू हो चुका था तथा उनके विभिन्न जातीय समूह यहाँ बसते चले गये जिनमें मुख्य व प्रभावी जाति खस मानी जाती है।

बौद्ध साहित्य में भी उत्तराखण्ड का उशीनगर नाम से चित्रण मिलता है। जिस उशरिध्वज पर्वत पर महात्मा बुद्ध गये थे। जिसकी पहचान कनखल(चंडी की पहाड़ी) से की जाती है। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में उभरिगिरि व विनचपिटक में उर्शरहवज के नाम से उत्तराखण्ड को जाना गया है। इसी प्रकार कथासख्सिागर में भी कनखल (हरिद्वार) के निकट क्षेत्र को उशीनगर नाम से वर्णित किया गया है।

2.3.2 महाकाव्यकालीन महाभारत रामायण

महाभारत के वन पर्व में किरात, तंगड़ कुलिन्द आदि जातियों का उल्लेख मिलता है। जो यहाँ की नदी घाटियों में निवास करती थीं, त्रिलोचन पाण्डे के अनुसार दुर्योधन ने सभा पर्व में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित राजाओं के नाम गिनाते समय कहा कि मेरू मंदिर पर्वतों के बीच शैलोदा नदी के तट पर कीचक वेणु वृक्षों की छाया में, खसएकासन, दीर्घ वेणु, पारंद, कुलिंद, तंगड़ और परतगंड़ नामक पहाड़ी राजा रहते हैं जो पिपीलिका जाति स्वर्ण और काले रंग के चवंर आदि लेकर आये थे। द्रोण पर्व में स्थानीय

जातियों दरद, तंगड़ खस, लयांक और कुलिन्द आदि को ग्लेच्छ कहा गया है उद्योग पर्व एवं कर्ण पर्व में भी इन जातियों का उल्लेख मिलता है।

महाभारत में ही बाणासुर की पुत्री ऊखा और अनिरूद्ध की प्रेम कथा का चित्रण है। इस संदर्भ में ऊखा के नाम से ऊखमिठ की स्थापनाल्या इस नरेश की राजधानी शोणितपुर(वर्तमान सलांण) को माना गया है। इसी काल में पाण्डवों द्वारा गन्धमार्दन पर्वत पर जाते हुए पाण्डुकेश्वर में मूर्ति की स्थापना तथा उसका नाम पाण्डुकेश्वर रखा था, कुलिन्द राज सुबाहु का कौरवों तथा तोमरों से युद्ध का वर्णन भी मिलता है। आदि पर्व में कुरुजडलदेश के अन्तर्गत उत्तरकुल व दक्षिण कुल का उल्लेख है। सभा पर्व में अर्जुन की उत्तर दिग्विजय के संदर्भ में पशुप/किम्पु रुषदेश (किन्नर देश), यामुनपर्वत, कालकूट, कुणिन्द, श्वेतपर्वत, विष्णुपद (गंगाद्वार) उर्शरिबीज आदि भोगोलिक एवं जातीय वर्णन है। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में उत्तरकुरू से गंगाजल, पुष्पबल सम्पन्न औषधियां, पिपीलिका स्वर्ण तथा मधु मेंट में आया था। इस संदर्भ में जागुड़, रामठ, खश व तंगड़ आदि जातियों का उल्लेख है। कठोच के अनुसार दुर्योधन के पक्षधर पर्वतीया, ऋग्वेद कालीन पारावत ही थे।

महाभारत काल में यहां की कुछ राजनीतिक इकाइयों का भी वर्णन मिलता है। जैसे– सभापर्व, आरण्यक पर्व व भविष्य पर्व में कुणिन्द का उल्लेख है अर्थात मध्य हिमालय की उक्त जातियां उत्तरकुरू क्षेत्र में निवास करती थीं पाण्डव काल में कनखल से आगे गंगाघाटी पर्वतीय प्रदेश कुलिन्द जनपद कहलाती थी। जहां पाण्डव पहुंचे थे, कुणिन्द जनपद छोटी–छोटी इकाइयों में बंटा था, तालमी के अनुसार जो हिमालय के ढालों पर व्यास, सतलज, यमुना और गंगा के स्रोत प्रदेश में फैला था। अम्बाला से लेकर सहारनपुर, देहरादून, गढ़वाल और अल्मोड़ा तक से कुणिन्द मुद्रायें मिलने से यह स्पष्ट हो गया है कि कुणिन्दों का विस्तार सतलज से लेकर काली (शारदा) तक फैला पर्वतीय प्रदेश और उसके पदतल में स्थित भावर था, यही नहीं महाभारत में यहां के चार आश्रमों का वर्णन भी है। जैसे– कण्वाश्रम, बदरीकाश्रम, भरतद्वाजाश्रम, शुक्रश्रम सम्भवतः ये आश्रम वेद विद्या के केंद्र थे।

रामायण के बालकाण्ड से ज्ञात होता है कि उत्तराखण्ड के पूर्वी भाग में बहने वाली कौशिकी(कोसी) नदी के तट पर काशिकाश्रम था इस आश्रम के सम्बन्ध में कौशिक (विश्वामिश्र) ने श्रीराम व लक्ष्मण से कहा था कि कुशराजा के कुल में उत्पन्न होने से मुझे कौशिक और मेरी बहिन को जिसका नाम सत्यवती था कौशिकी भी कहते हैं।

इस प्रकार महाकाव्यकालीन धार्मिक ग्रन्थों में भी मध्य हिमालय उत्तराखण्ड का विभिन्न नामों के साथ अनेक सन्दर्भों में उल्लेख मिलता है। जो यहां की ऐतिहासिक प्रमाणिकता को सिद्ध करती है।

2.3.3 पुराण

जिस प्रकार आपने उपर पढ़ा कि उत्तराखंड के साहित्यिक श्रोतों में वैदिक और महाकाव्यकालीन आदि ग्रन्थों का महत्व है उसी प्रकार पुराण भी यहां के साहित्यिक भागों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात उत्तरी भारत में जिन छोटे–छोटे राज्यों का उदय हुआ उन्हीं में एक ब्रहनपुर राज्य था जिसका वर्णन तालेश्वर से प्राप्त ताम्रपत्रों में है। जिनमें राज्य का नाम पर्वताकार व राजधानी ब्रहनपुर बताई गई है। इस पर्वताकार राज्य का उल्लेख मार्कण्डेय पुराण व वृहत्संहिता में भी मिलता है। सम्भवतः यह पर्वताकार राज्य उत्तराखण्ड था परन्तु इसकी राजधानी ब्रहनपुर के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं जैसे– उत्तरकाशी, श्रीनगर, पाण्डुवाला, ढिकुली, लालनपुर, वैरापट्टन और कत्यूर बागेश्वर आदि। इसलिए इस पर्वताकार राज्य के सम्बन्ध में सभी उपलब्ध साक्ष्यों एवं विकल्पों का मूल्यांकन कर ही ब्रहनपुर की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो सकती है।

पुराणों में न सिर्फ पर्वताकार राज्य का वर्णन है अपितु कुमाऊं एवं गढ़वाल दोनों क्षेत्रों का विस्तार से उल्लेख है। अठकिन्सन, डबराल व त्रिलोचन पाण्डे के अनुसार एक ओर ब्रहनपुरण, वायुपुराण में यहां की नाग, विद्याधर, यक्ष किन्नर आदि जातियों का वर्णन है। स्कन्द पुराण में मानस खण्ड में भी इसका विस्तृत उल्लेख है। जहां कोसी(कौशिकी) और सुंवाल (शाम्मली) नदियों के बीच में स्थित काषाय पर्वत के नाम से अल्मोड़ा को पर्वतीय भूभाग वर्णित है, भागवत पुराण में मार्कण्डेय ऋर्षि की कथा तथा चित्रशिला उल्लिखित है। चित्रशि**ला** जो वर्तमान में काठगोदाम के निकट रानीबाग के नाम से प्रसिद्ध है पुण्य भद्रा सम्भवतः गौला नदी है।

वायु पुराण, विष्णु पुराण, भागवत पुराण, मार्कण्डेय पुराण व हरिवंश पुराण में किन्नर, सिद्ध, यक्ष, दानव, गन्दर्भ, दैत्य आदि जातियों के संकेत मिलते हैं। पुराणों के अतिरिक्त संस्कृत एवं हिन्दी के प्राचीन साहित्यकारों ने भी इन जातियों की विशेषतायें उल्लिखित की हैं।

कुमाऊँ की तरह पुराणों में गढ़वाल क्षेत्र में भी वर्णित है। विष्णु पुराण, वायुपुराण, पद्मपुराण, बामनपुराण, स्कन्ध पुराण के अनुसार गढ़वाल में बदरी, केदार मदरांचल, मेरूपर्वत, गन्धमाधन, पाण्डवों का आगमन, शिव पार्वती का निवास स्थान तथा बद्री को विष्णु की तपस्थली माना है और उत्तराखण्ड को उत्तरकुण्ड, हेमवत, मानवखण्ड, केदारखण्ड, हिरण्यमाया व सुवर्ण भूमि आदि नामों से उल्लेख किया है।

उत्तराखंड को लेकर दो ग्रन्थ मानवखंड व केदारखंड की रचना हुई। जिन्हें स्कन्दपुराण का ही भाग माना जाता है इनके अनुसार टोंस–यमुना से काली–शारदा तक फैला उत्तराखंड मानसखंड व केदारखंड दो भागों में बंटा है। इन ग्रन्थों के अनुसार देहरादून, उत्तरकाशी , टिहरी, चमोली, व हरिद्वार क्षेत्र को केदारखंड में माना गया है। तथा उत्तराखंड का पूर्वी भाग पिथौरागढ़, अल्मोड़ा और नैनीताल जिले मानसखण्ड में। अ

अतः निश्चित रूप से हम पुराणों के उल्लेखानुसार उत्तराखण्ड के बारे में विस्तार से जान सकते हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1- निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

क. वैदिक स्रोत

ख. महाभारत कालीन स्रोत

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

क. पुराण

ख. महाकाव्य

2.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यकार स्रोतः भाग–दो

अभी तक आपने पढ़ा साहित्यिक स्रोतो के भाग–एक में मुख्य रूप से धार्मिक साहित्य के बारे में जैसे– वैदिक, महाकाव्य व पुराण आदि, अब आप यहां पढ़ेंगे सामान्य साहित्य, यात्रा साहित्य एवं स्थानीय/समकालीन साहित्य के बारे में, जिसके माध्यम से आप पढ़ेगें पूर्व से वर्तमान तक उत्तराखंड के इतिहास पर विभिन्न प्राचीन लेखकों स्वदेशी व विदेशी यात्रियों के वृतान्त या फिर स्थानीय व समकालीन विद्वानों, इतिहासकारों द्वारा लिखिए। जिनके अध्ययनों से यहां के इतिहास को गहनता से समझा जा सकता है।

2.4.1 सामान्य साहित्य

सर्वप्रथम सामान्य साहित्य में यदि हम पाणिनी की अष्टाध्यायी का वर्णन करते हैं तो उसमें लगभग 5 वीं शताब्दी ई.पू. या उससे पूर्व में मध्य हिमालय के विभिन्न जनपदों का उल्लेख मिलता है। दूसरी ओर अब तक हिमालय को कालिदास से अधिक प्रखर तरीके से किसी और ने परिभाषित नहीं किया है। कालिदास तो हिमालय के भूगर्भ से भी परिचित लगते हैं। हिमालय के इसी आकषर्ण ने ऋषियों, कवियों, धर्मप्रचारकों को ही नहीं सामान्यजन को भी आकर्षित किया। महाकवि कालिदास को दो रचनाऐं मध्य हिमालय के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। इन ग्रन्थों के माध्यम से यहां की प्राकृतिक सुन्दरता के अतिरिक्त स्थानीय इतिहास के विविध पक्ष, सांस्कृतिक विविधता व भूगोल को समझने में अति आवश्यक है।

कठोच के अनुसार राजशेखर के काव्यमीमाशां में उल्लेखित एक श्लोक से ज्ञात होता है कि हिमालय में स्थापित कार्तिकेयनगर में कोई बलशाली खसाधोपति शासन करता था। इसी तरह विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्तम व वाण रचित हर्षचरित्रम में उस खशराजा को शकपति कहा गया है। उस शकपति ने मध्य हिमालय में समुद्रगुप्त के साथ युद्ध किया था और रामगुप्त को विजित कर उसकी पत्नी ध्रुब देवी की मांग की थी। परन्तु इस कार्तिकेयनगर की स्थिति के बारे में विद्वानों के विभिन्न मत हैं कुछ इसे जोशीमठ(गढ़वाल) के निकट तो कुछ बैजनाथ (कुमाऊँ) मानते हैं। इसके अतिरिक्त राजतंरगिणी में केदारमण्डल व स्त्री देश का उल्लेख है।

चन्द्रकालीन ग्रन्थ कल्याणचन्द्रोदय एवं स्मृतिकौस्तुम में चन्द शासकों का इतिहास ज्ञात होता है। उसी प्रकार पंवार कालीन मानोदय काव्य व रामायण प्रदीप में पंवार शासकों का वर्णन है। ऐसे ही अन्य ग्रन्थ सुदर्शन शाह कृत सम्वसार, शंकरकृत रातन कपि का रीति काव्य मौलाराम का गढ़राज इतिहास मणिका नाटक आदि में भी पंवार राज्य का विस्तार से वर्णन है।

2.4.2 यात्रा साहित्य

हिमालय यात्रायें हमारे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं जिनमें निरन्तर बढ़ोत्तरी होती रही है। बसासत को स्थान और पशुपालन हेतु चराने की यात्रायें कब तीर्थ यात्रा से जुड़ी होंगी अनिश्चित है। कठिनतम परन्तु दुर्लभ सुन्दरता व स्थान मनुष्य को सदा आकर्षित करते रही हैं। ऐसे स्थान पहाड़ तालाब, दर्रे, शिखर, गुफाओं में हमारे पूर्वजों ने देवता को ढूंढा था एक तरफ प्राचीन ऋषियों का हिमालय भ्रमण तथा निवास के संदर्भ मिलते हैं। जैसे बुद्ध, शंकराचार्य, ऋषभदेव, मणिपद्म, ईसामसीह, गुरूनानक, गोरखनाथ, जैसुईटफादर्स और विवेकानन्द तक ने हिमालय की यात्रायें को दूसरी ओर चीनी यात्री ह्वेनसांग, हार्डविक, मूरकोफ्ट, हेबर, हूकर, हाईम तथा गैनसीर ने हिमालय की वैज्ञानिक समझ और संवेदना के साथ यात्रायें की थी इन यात्रियों के जो यात्रा वृतान्त हैं उनमें आप उत्तराखंड के हर पहलू के बारे में पढ़ सकते हैं।

629 ई0 से 645 ई0 तक ह्वेगसांग ने भारत यात्रा की थी इस यात्रा में वह उत्तराखंड भी पहुंचा जहां उसने ब्रहनपुर राज्य का उल्लेख किया है जो राज्य 800 मील में फैला कुमाऊँ व गढ़वाल था (कनिघंम के अनुसार) साथ में ह्वेनसांग ने यहॉ की कृर्षि, व्यवसाय, धर्म जलवायु, मंदिर आदि के साथ स्त्री देश का वर्णन भी किया हुआ है, तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी व बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख भी किया है। ब्रहनपुर से 80 मील दूर स्थित गोविषाण (वर्तमान काशीपुर) राज्य का उल्लेख किया है। सामाजिक व अध्ययनशीलता का वर्णन करते हुए कहा है कि यहां एक स्तूप व दो संघ हैं जिनमें 100 भिक्षु रहते हैं यह माना जाता है कि उस स्तूप में बुद्ध के केश व नाखून रखे गये हैं आदि, यहीं से ह्वेनसांग की तरह 1924 में पुर्तगाली यात्री ने भी हरिद्वार, श्रीनगर, बदरीनाथ तथा मांणा आदि की यात्रा की थी, उसने भी यहां के दर्रे, बुग्याल, मंदिर धार्मिक जीवन, नदी, नाले राजनीति व हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है।

ऐसे ही 17 वीं शताब्दी में थामस हार्डविक ने यात्रा की थी। 18 वीं शताब्दी में मूरकोफ्ट, ने कैलाश मानसरोवर सहित हिमालय यात्रा की थी इसी प्रकार हैबर, हूकर , गैनवसीर तथा हाईम ने भी मध्य हिमालय की यात्रा की थी।

उक्त यात्रियों ने अपने–अपने यात्रा वृतान्त में उत्तराखंड के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए यहां की प्रकृति, जलवायु, भूगोल, समाज, धर्म रहन–सहन, वेशभूषा, धर्म व राजनीति आदि की विस्तार से वर्णन किया है।

2.4.3 स्थानीय/समकालीन साहित्य

स्थानीय एवं समकालीन साहित्य में मुख्यतः सरकारी दस्तावेज, रिपोर्ट, बन्दोवस्त आदि व गैर सरकारी दस्तावेजों में व्यक्तिगत जो किसी व्यक्ति द्वारा अपने पास संकलित या संरक्षित किए हुए है उनके माध्यम से भी उत्तराखण्ड के इतिहास को जान सकते हैं दूसरे शब्दों में प्रकाशित व अप्रकाशित साहित्य एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

उक्त स्रोतो के अतिरिक्त विभिन्न पाण्डुलिपियों पत्र, पत्रिकाऐं व समाचार पत्र भी महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में उपलब्ध है। पाण्डुलिपियों से मध्य हिमालयी इतिहास के विविध पक्ष उजागर होते हैं। वही यहां की लेखन परम्परा, भाषा व स्थान विशेष की महत्ता का पता चलता है। इसी तरह समय–समय पर यहां से प्रकाशित समाचार पत्र भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं। जैसे–अल्मोड़ा, अखणर, गढ़वाली, गढ़वाल समाचार शक्ति, स्वाधीन प्रजा, कुमाऊँ कुमुद, पुरूषार्थ, समता, कर्मभूमि व युगवाणी आर्दि

मौलिक स्रोतों के आधार पर विभिन्न विद्वानों, इतिहासकारों द्वारा किया अध्ययन व प्रकाशित पुस्तकें भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं जो यहां के पुरातत्व, लोक इतिहास, भाषा, साहित्य, सामाजिक तथा राजनैतिक इतिहास को जानने समझने की कोशिश करते आ रहे हैं यहां की संस्कृति व अर्थव्यवस्था की विविधता को खोजते हैं जैसे– अठकिन्सन, बदरी दत्त पाण्डे, डबराल, के.पी. नौटियाल, मठपाल, डी.पी' अग्रवाल, मदनचंद्र भट्ट, नित्यानंद मिश्र, ताराचंद्र त्रिपाठी, ओकले, म.प्र. जोशी विभिन्न गजेटियर तथा पहाड़ आदि।

स्थानीय व समकालीन साहित्य का एक महत्वपूर्ण स्रोत यहां का लोक साहित्य भी है जिसमें वहां के भूगोल, पुरातत्व, इतिहास, समाज, संस्कृति, जाति, धर्म अर्थ, राजनीति आदि का विस्तार से उल्लेख मिलता है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

क सामान्य साहित्य

ख. यात्रा साहित्य

2. नीचे लिखे प्रश्नों का उत्तर दीजिएः

क. ह्वेनसांग

ख. स्थानीय साहित्स

2.5 सारांश

मनुष्य की विकास यात्रा अपने आप में एक आकर्षक विषय है ज्यों–ज्यों मनुष्य की कठिन यात्रायें कम होती गई वैसे ही उसे अपने को अभिव्यक्त करना आता गया। इस विकास यात्रा के अंतिम हिस्से में ही साहित्य जन्म ले सका, हिमालय में पुरातात्विक साधनों के बाद मनुष्य ने साहित्य के रूप में अपने को अभिव्यक्त कर सुरक्षित रखना शुरू किया था जिसके उदाहरण विभिन्न काव्य, ग्रन्थ, पाण्डुलिपियों आदि हैं। परन्तु मध्य काल के यात्रा वृतान्तों में इनकी अपेक्षा अधिक गहन चित्रण मिलता है।

यहां के इतिहास के साहित्यिक श्रोतों मेंम ुख्य रूप से धार्मिक साहित्य है जिसमें सर्वप्रमुख ऋग्वेद, उपनिषद, अरण्यक, आदि हैं। इसी तरह बौद्ध साहित्य में भी उत्तराखंड का उल्लेख मिलता है। महाकाव्यकालीन साहित्य में महाभारत व उसके विभिन्न पर्व तथा रामायण में भी चित्रण मिलता है। विभिन्न पुराणा भी मुख्य स्रोत हैं मुख्यतः स्कन्द पुराण, मानसखंड, केदारखंड, आदि।

दूसरी ओर सामान्य साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्रोत है जैसे अष्टाध्यायी, कालिदास की अभिज्ञानशाकुन्तलम, मेघदूत, काव्यमीमाशां, देवीचन्दगुप्तम, हर्षचरित्रम या कल्याणचन्द्रोदय, मानोदय काव्य, रामायण प्रदीप, समास्वर गणिका नाटक आदि व यात्रा साहित्य में बुद्ध से लेकर विवेकानन्द तक और ह्वेनसांग से लेकर मूरकोफ्ट, गैनसीर तक के यात्रा वृतान्त हैं जिन्होंने हिमालय की वैज्ञानिक समझ व संवेदन, गहनता के साथ अपने वृतान्तों को लिखा है। सरकारी, गैरसरकारी दस्तावेज, बन्दोवस्त रिपोर्ट, व्यक्तिगत संग्रह, प्रकाशित , अप्रकाशित साहितय, पाण्डुलिपियां, स्थानीय समाचार पत्र तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा समय–समय पर लिखित पत्र–पत्रिकाऐं व पुस्तकें भी महत्व के स्रोत हैं।

अतः उक्त साहित्यिक स्रोतों में प्रारंम्भिक स्रोतों से लकर मध्य काल वह आधुनिक साहित्यिक स्रोतों में उत्तराखण्ड के इतिहास को विस्तार से जान व समझ सकते हैं।

2.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1 (क) देखिए 1.3.1 वैदिक

(ख) देखिए 1.3.2 महाकाव्यकालीन

3 (क) देखिए 1.3.3 पुराण

(ख) देखिए 1.3.2 महाकाव्यकालीन

इकाई 1.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1 (क)देखिए 1.4.1 सामान्य साहित्य

(ख)देखिए 1.4.2 यात्रा साहित्य

2 (क) देखिए 1.4.2 यात्रा साहित्य

(ख) देखिए 1.4.3 स्थानीय एवं समकालीन साहित्य

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अठकिन्सनःई.टी.ः हिमालयन गजेटियरः भाग–1,2 लो प्राइस पब्लिकेसन, दिल्ली 2002
2. पाण्डेः बदरीदत्तःकुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, 1990
3. डबरालः शिवप्रसादः प्राग ऐतिहासिक उत्तराखण्ड, नव युगान्तर प्रेस, शारदा रोड मेरठ संवत् 2055 वि.
4. कठोचः यशवंत सिंहः उत्तराखंड की नवीन इतिहास, विन्सर पब्लिकेशन, देहरादून 2010
5. मिश्राः एन.एनः सोसे मैटीरियल आफ कुमाऊँ हिस्ट्री अल्मोड़ा 1994
6. पाठकः शेखरः पहाड़– 11,2001 नैनीताल
7. शर्माः डी.डी.ः कल्चरल हिस्ट्री आफ उत्तराखण्उ, आइ.जी., एन.सी. नई दिल्ली 2009
8. जोशीःएम.पी.ः उत्तराखण्ड, कुमाऊँ गढ़वाल हिमालय अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा 1996
9. त्रिपाठीः ताराचंद्रः उत्तराखंउ का ऐतिहासिक भूगोलः पहाड़, नैनीताल, 1999
10. पाण्डेः त्रिलोचनः कुमाऊँनी भाषा और उसका साहित्यः उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ 1977
11. खण्डूरीः बी.एम. सकलानीः पी.एम. सेन्ट्रल हिमालया ट्रान्स मीडिया श्री नगर गढ़वाल 2003

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के साहित्यिक स्रोतो पर एक लेख लिखिए।
2. वैदिक साहित्य पर एक उल्लेख कीजिए।
3 .यात्रा साहित्य का वर्णन कीजिए।
4. सामान्य इतिहास पर एक लेख लिखिए।
5. उत्तराखण्ड के धार्मिक साहित्य पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिए।

उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–मौखिक परम्परा

ब्लॉक– 1, इकाई– 3

उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–मौखिक परम्परा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 उत्तराखण्ड की मौखिक परम्पराओं का वर्णन

1.3.1 लोक गीत

1.3.2 लोक गाथा

1.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत, लोक गीत, लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे

1.4.1 लोक गीत

1.4.2 कहावतें तथा मुहावरे

1.5 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–लोक गाथाएं–कथाएं

1.5.1 मालूशाही

1.5.2 जागर

1.5.3 वीर गाथाएं

1.6 सारांश

1.7 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.8 स्व मूल्यांकन प्रश्नों के उत्तर

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

ब्लाक– 1, इकाई– 3

उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–मौखिक परम्परा

1.1 प्रस्तावना

हिमालय का मध्यवर्ती क्षेत्र उत्तराखण्ड अनेक भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विविधताओं को अपने में समेटे है। संस्कार, ज्ञान–विज्ञान, परम्पराएं, उत्सव, चित्रकला शिल्प आदि से लेकर मौखिक परम्परा तक इस विविधता का विस्तार है।

लोक संस्कृति का वह पक्ष जो श्रुति और स्मृति परम्परा में विस्तार लिया है, वस्तुतः अतीत से वर्तमान तक तथा भविष्य में भी कदाचित कभी समाप्त न होने वाली यह सांस्कृतिक विरासत–मौखिक परम्परा–लोक जीवन का आधार है। पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराई जाने वाली इस परम्परा में विचार, मनुभवजन्य ज्ञान, मनोभाव, मनुष्य का संघर्ष, आशाएं, आकांक्षाएं, तत्कालीन समाज, उसके द्वन्द्व व इतिहास आदि सहजता से झलकता है।

मौखिक परम्परा में वर्णित इतिहास व पेशेवर इतिहास में अन्तर होता है। क्योंकि पेशेवर इतिहास ने पूर्व में अधिकतर अभिजात वर्ग की सेवा की है। परन्तु लोकगीत, गाथाएं, किंवदंतियां, मुहावरे आदि लोक मानस की उपज होती हैं। जनता का दुःख दर्द, लालसाएं, इतिहास, सामाजिक सम्बन्ध व सपने सब कुछ उसमें अभिव्यक्त होते हैं।

इतिहास नई पीढ़ी की मानसिकता बदलने में भी अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। इसलिए प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से हर शासक अपने अनुकूल इतिहास लिखवाने की कोशिश करता है। जब इतिहास को तोड़–मरोड़कर पेश किया जाता रहा हो तो मौखिक परम्परा अपने में कुछ सत्य बचा लेती है। लेकिन इसका आशय यह भी नहीं है कि किंवदंतियां व गाथाएं ही इतिहास है, परन्तु मौखिक परम्परा की इतिहास में भूमिका को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता।

1.2 उद्देश्य

- उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा का वर्णन
- उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–लोकगीत, लोकोक्तियाँ व मुहावरे
- उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–लोक गाथाएं–कथाएं

1.3 उत्तराखण्ड की मौखिक परंपरा का वर्णन

उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा बहुत समृद्ध, विविध तथा विस्तृत है। इस मौखिक परम्परा को निम्न हिस्सों में बॉट सकते हैं–

- लोकगीत
- लोक गाथाएं–कथाएं
- लोकोक्तियां, मुहावरे, पहेलियां, कहावते
- तंत्र–मंत्र

1.3.1 लोक गीत

डॉ0 त्रिलोचन पांडेय ने यहाँ के लोकगीतों को संस्कार गीत, नृत्य गीत, अनुभूति प्रधान गीत, तर्क प्रधान गीत, ऋृतु गीत, देवी–देवताओं के गीत, संवाद प्रधान गीत, व्रत–त्यौहारों के गीत, कृषि गीत तथा स्फुट गीतों में बांटा है।

संस्कार गीतों के अन्तर्गत मुख्यतः वे गीत आते हैं जिन्हें कि विभिन्न संस्कारों– जन्म, नामकरण, उपनयन, विवाह आदि के अवसर पर माताएं–बहिनें गाती हैं।

उत्तराखण्ड के सर्वाधिक प्रचलित गीत यहाँ के नृत्यगीत हैं। ये गीत मेलों, शादी–ब्याहों, त्यौहारों–उत्सवों–मेलों आदि के अवसर पर गाये जाते हैं। एक ही गीत को अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग नामों से पुकारा जाता है। जैसे– थड़या, चौफुला, झुमैलो, तांदी आदि नृत्यगीत झोड़ा–चांचरी के सादृश्य होते हैं। नृत्य का पदक्रम भी लगभग एक सा होता है। परन्तु इसमें नाम भेद अवश्य है। इसी तरह झोड़ा को मुनस्यारी में ''ढुस्का'' कहते हैं तो पिथौरागढ़ में ''खेल'' तो ओखलकांडा, धारी, सालम में ''भ्वैनी'' तो दानपुर तथा चमोली जिले में ''चांचरी''। हालांकि अनेक विद्वान इन गीतों को एक ही गीत झोड़े का रूप न मानकर अलग–अलग श्रेणियों में रखते हैं। जैसे वे चांचरी को झोड़े का प्राचीन रूप बताते हैं।

छपेली नृत्य गीत का रूप अवश्य ही झोड़ा–चांचरी से भिन्न होता है। यह तेज लय में गाया जाने वाला/नाचा जाने वाला गीत है। झड़या, चौफुला, झुमैलो जिन्हें कि झोड़ा–चांचरी का एक रूप मान सकते हैं गढ़वाल के प्रसिद्ध नृत्य हैं।

अन्य तरह के गीतों में ''न्योली'' गीत का विषय मुख्यतया वियोग श्रृंगार होता है। इसी तरह के गीत ''खुदेड़'' गीत भी हैं, जिन्हें कि विरह गीतों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इन गीतों की अनुभूति अधिकांशतः करूणात्मक होती है। अतः इन्हें हम अनुभूति प्रधान गीत भी कह सकते हैं।

तर्कप्रधान एवं संवाद प्रधान गीतों को ''बैर'' नाम से जाना जाता है। लोक गायक मेलों–ठेलों में काव्यात्मक तरीके से एक–दूसरे से सवाल–जवाब करते हैं। संवाद प्रधान गीत का एक अन्य उदाहरण रवांई–जौनपुर में प्रचलित ''छोपती'' गीत भी है। इसके अतिरिक्त बाजूबंद गीत, लामण गीत, ऋृतु गीत, देवी–देवता सम्बन्धी गीत, कृषि गीत, व्रत–त्योहारों के गीत आदि उत्तराखण्ड में प्रचलित हैं। इसी तरह उत्तराखण्ड के दक्षिणी क्षेत्र में रहने वाले थारू–बोक्सा समाज में कन्हरी, चिलका, रसौला, चील्हा, विरहा, फाग, होली, बारामासा आदि गीत बड़े लोकप्रिय हैं।

कृषि गीतों के अंतर्गत ''हुड़की बौल'' आता है। यह लोक गायकों द्वारा धान–मडुवे की रोपाई–गोड़ाई के समय गाया जाता है। अन्य गीतों में यहाँ के होली गीत तथा बाल गीत लिये जा सकते हैं।

1.3.2 लोक गाथा

मौखिक परम्परा का दूसरा रूप हमें गाथाओं–कथाओं के रूप में मिलता है। पौराणिक गाथाओं के अन्तर्गत राम, कृष्ण, शिव, कौरव, पांडवों की गाथाएं आती हैं, ऋतु सम्बन्धी गाथा के अन्तर्गत चैत्र–वैशाख माह में गाये जाने वाली गाथा ''ऋतुरैंण'' प्रमुख है। इसरा मार्मिक कथानक भाई–बहन के अतुलनीय प्रेम पर आधारित है। प्रणय गाथा के अन्तर्गत हम ''मालूशाही'' को रख सकते हैं।

उत्तराखण्ड में वीर गाथा गायन हमें स्वाभाविक रूप से उस कालखण्ड की ओर ले जाता है जिसे अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में मध्यकाल कहा जाता है। भड़ौ, कटकू, पवाड़े यहाँ के वीर गाथा काव्य हैं। ये मनोरंजन के साथ ऐतिहासिक संदेश भी देते हैं।

धार्मिक गाथाओं/जागरों की उत्तराखण्ड में बहुतायत है। डॉ0 त्रिलोचन पांडे ने जागरों के बारे में कहा है– ''जिन गाथाओं का आधार किसी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान अथवा लोक प्रचलित विश्वास है तथा ये तंत्र–मंत्र और देवता नचाने के क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं।'' परम्परागत गाथा के अंतर्गत ''रमौल'' को रखा जा सकता है। इस गाथा का विस्तार उत्तराखण्ड स्तर पर है। इस कथा के नायक है गंगू रमौल के बेटे– सिदुवा–बिदुआ।

इसी तरह उत्तराखण्ड का लोक साहित्य लोकोक्तियों, कहावतों, मुहावरो, पहेलियों, चुटकुलों, तंत्र, मंत्रों आदि से भी भरा पड़ा है। तंत्र मंत्रों में कभी–कभी बड़े दार्शनिक प्रश्न सामने उभरकर आते हैं जैसे लोक गायक झूसिया दमाई ''रखवाली'' (भूत–प्रेत से रक्षा हेतु अभिमंत्रित मंत्र) में निम्न प्रश्न उठाते हैं कि–

हे सिंह माता
गौर माता
स्मरण चला
यादकर, ध्यान लगा
कि
वह मूल बीज कहाँ था।

1.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–लोकगीत, लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे

1.4.1 लोक गीत

मौखिक परम्परा में इतिहास को कैसे तलाशा जा सकता है इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

कहते हैं कि आखीर के कत्यूरी राजाओं में वीरदेव नाम का राजा भी था। राजा वीरदेव बड़ा अत्याचारी शासक था और तो और उसने अपनी मामी से जबरदस्ती विवाह कर लिया। कहते हैं कि ''मामी तिले धारो बोला'' वाला उत्तराखण्डी राग उसी दिन से चल पड़ा। मामी का नाम तिला उर्फ तिलोत्तमा देवी था। आज भी उत्तराखण्ड में ''तिलैधारो बोला'' जुमला लोक गीतों में खूब प्रयुक्त होता है जैसे–

लाली हो लाली हौंसिया
पधानी लाली तिलै धारो बोला
या
ए बाना पनुली चकौरा तीलै धारो बोला
ए लौंडा कुंदन अमीना तीलै धारो बोला

इसी तरह औपनिवेशिक अत्याचारों व भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की घटनाओं के भी अनेक गीत यहाँ मौजूद रहे हैं। जैसे भगतसिंह पर बने झौड़े से हमें यहाँ तक पता चलता है कि उन्हें फांसी कितने बजे दी गयी–

धन्य–धन्य भगत सिंह धन्य तुमूँ हणी
पांणी को पिजीया बीरा पांणी को पिजीया
तै वीरा फाँसी चढ़ो आजादी का लिजिया
हल–हल आमा वीरा हल–हल आमा
लै वीरा फांसी भयो सात बजी शामा

कहने का आशय यह है कि ऐसे अनेक लोकगीत यहाँ पर मौजूद हैं या उन्हें तलाशने की जरूरत है जिनसे हमें तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी मिलती है।

1.4.2 कहावतें तथा मुहावरे

कहावतें तथा मुहावरे भी उत्तराखण्ड का इतिहास जानने का एक स्रोत है। ऐसी कहावतें या मुहावरों के माध्यम से हमें कत्यूरी, चंद, पंवार, नेपाली व अंग्रेजी शासनकाल की जानकारी मिलती है। जैसे एक कहावत में कत्यूरी राजवंश का उल्लेख है। जिसका सिंहासन पर अधिकार था और जिसके अधीन ब्रह्मपुर तथा लखनपुर स्थान थे।

''आसन वाका वासन वाका सिंहासन वाका
वाका ब्रह्म वाका लखनपुर।''

एकटकिंसन का अनुमान है कि आसन व वासन इस लोकोक्ति में कत्यूरी राजाओं के नाम हैं तथा ब्रह्म व लखनपुर जिसके अधीन थे। डॉ0 त्रिलोचन पांडेय कहते हैं कि लखनपुर पाली पछाऊं में एक स्थान था और ब्रह्मपुर को वर्तमान काशीपुर के उत्तर में माना जाता हैं। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि डोटी, अस्कोट व पाली के कत्यूरी राजाओं की वंशावली में आसन्तिदेव व वासन्तिदेव के नाम आये हैं। अतः लोकोक्ति में आये आसन व वासन को राजा मानना तथा उनका राज्य विस्तार काशीपुर तक मानना गलत प्रतीत नहीं होता।

चंद राजा रूद्रचंद (1568–1597) के सम्बन्ध में एक कहावत है– ''जो रूद्रचंद की आली तो रामचंद्र की नाली''। राजा रूद्रचंद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अपने पुरोहित ब्राह्मणों के प्रभाव में थे। बालेश्वर मंदिर (चंपावत) के एक पुजारी रामदत्त ने रूद्रचंद से कहा कि महादेव जी के पृथ्वी में गढ़े होने के कारण

उनकी राज्य की वृद्धि रूकी हुयी है, उन्हें निकालिये। राजा ने चंपावत जाकर मंदिर का जीर्णोद्धार किया और प्रत्येक गाँव में एक नाली रामदत्त के लिए निश्चित कर दी, तभी से यह कहावत चली। आज यह बात ऐतिहासिक तथ्यों से भी सिद्ध हो चुकी है कि रूद्रचंद ने बालेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार किया था।

चंदों के बाद गोरखों ने उत्तराखण्ड पर 1790–1815 तक राज्य किया। इनका शासन निर्दयता, क्रूरता तथा सैनिक तानाशाही के लिए जाना जाता है। इसके बारे में एक प्रसिद्ध मुहावरा है– ''के मैं हूँ गोरखियोक राज है गो'' अर्थात क्या मेरे लिए गोरखों की भॉति राज्य हो गया है। आज भी जब पहाड़ में जब किसी पर कोई अत्याचार करता है तो किसी पुराने वृद्ध व्यक्ति के मुंह से उक्त उक्ति सुनी जा सकती है। यह उक्ति गोरखों के निरंकुश शासन के बारे में हमें अवगत कराती है।

इस तरह लोकोक्तियां, कहावतें व मुहावरे भी जो कि मौखिक परम्परा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती हैं यहाँ के इतिहास को जानने का एक स्रोत हैं।

1.5 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत–लोक गाथाएं–कथाएं

विषय वस्तु, अवसर विशेष तथा गायन परम्परा को ध्यान में रखते हुए अभी तक जितनी उत्तराखंडी लोक गाथाएं प्राप्त हुयी हैं, उन्हें चार भागों में बांटा जा सकता है।

- परम्परागत गाथाएं
- पौराणिक गाथाएं
- धार्मिक गाथाएं
- वीर गाथाएं

अन्य गाथाओं की तुलना में अपेक्षाकृत प्राचीन होने एवं प्रभाव विस्तार की दृष्टि से अधिक व्यापक होने के कारण दो महान लोक गाथाओं ''मालूसाही'' (इसको हम प्रणय गाथा भी कह सकते हैं) और ''रमौल'' को हम परम्परागत गाथाओं के वर्ग में रख सकते हैं। जिनकी समयानुसार कलेवर वृद्धि होती रही है तथा कितनी ही परवर्ती घटनाएं समाविष्ट कर ली गयी हैं।

1.5.1 मालूसाही

यह गाथा वैराठ के धर्मात्मा राजा दुलासाही के पुत्र मालूसाही तथा जोहार या सौक्याण देश (शौका–भोटिया जाति) के व्यापारी सुनपति शौक की बेटी राजुला की प्रणय गाथा है। इस गाथा की प्रमुख घटनाएं व स्थानों के नाम किसी न किसी रूप में अभी तक प्रसिद्ध हैं। 'बैराठ' मालूसाही की राजधानी कही गयी है जो इस समय द्वाराहाट से भिकियासैंण वाले मार्ग में चौखुटिया–गिवाड़ मार्ग से प्रायः 2 मील की दूरी पर है। वहाँ प्राचीन भवनों के खंडहर अभी तक हैं। बागनाथ बागेश्वर के प्रसिद्ध देवता है जहाँ आज भी उत्तरायणी मेले को स्नान होता है। इसी मेले में तब दुलासाही व सुनपति शौक ने सन्तान प्राप्ति हेतु प्रार्थना की थी। इसी तरह गाथा में उल्लिखित जगहें व यात्रा मार्ग आज भी उत्तराखण्ड के मानचित्र में देखे जा सकते हैं। गाथा

में वर्णित जातियां ऐतिहासिक हैं। 'शौक' या 'शौका' जोहार में भेड़ पालन करने वाले व ऊन का व्यापार करने वाले लोग हैं। सुनपति इन्हीं का कोई पूर्वज था।

मालूसाही को कत्यूरी वंश का शासक कहा गया है। कत्यूरी वंश निश्चित ही उत्तराखण्ड का पहला ऐतिहासिक राजवंश है। गाथा में धामद्यो, विरम द्यो अर्थात धामदेव, विरम देव का नाम आया है। ब्रह्मदेव या विरमदेव का नाम अन्य गाथाओ में भी आया है। उसने ठोर चंद–भाग चंद की सेनाओं को पराजित किया। इतिहासकार ठोरचंद या थोहरचंद का समय सन् 1261 से सन् 1275 ई0 तक मानते हैं। अतः ब्रहमदेव का समय भी इस तरह तेरहवीं सदी ठहरता है। कत्यूर वंश की अस्कोट वाली वंशावली में अंतिम पांच नाम प्रीतमदेव, धामदेव, ब्रहमदेव, त्रिलोकपाल व अभयपाल आये हैं। अभयपाल सन् 1279 में कत्यूर से अस्कोट गया था। उस समय की राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रख प्रत्येक राजा के लिए 20 वर्ष छोड़ दिये जाँय तो धामदेव, ब्रह्मदेव का समय 13वीं सदी के पूर्वार्ध में ठहरता है, जो उपर के प्रसंग से भी प्रमाणित है।

मालूसाही को धामदेव, ब्रहमदेव का समकालीन मानने पर उसका समय 13वीं शताब्दी के आस–पास निश्चित होता है। जियाराणी की जागर गाथा में जियाराणी को धामदेव या ब्रह्मदेव की पत्नी कहा गया है। गाथा के अनुसार शिव की कृपा से उसके पुत्र दुलासाही का जन्म हुआ। यदि वह दुलासाही और माूलसाही का पिता दुलासाही एक ही व्यक्ति है तक मालूसाही का काल 13वी सदी के अन्त में ठहरता है। वर्णन और उल्लेखों की दृष्टि से इस गाथा की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में और संकेत मिलते हैं। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि ''मालूसाही'' के नाम से प्रचलित लोक गाथा नितांत कल्पित नहीं है। यह मूलतः ऐतिहासिक प्रेम काव्य है जो लोक गायकों के मुख में निवास करते हुए अन्य गाथाओं की भाँति निरंतर विकसित होता रहा है तथा अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक घटनाओं से युक्त हो गया है।

राजनीतिक व सामाजिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण गाथा है। जिसमें उत्तराखण्ड के तत्कालीन सामंती शासन की झलक मिलती है। बहु पत्नीत्व एवं इच्छा के अनुकूल विवाह का संकेत किया गया है। राजुला का अनेक कठिनाईयों का वीरतापूर्वक सामना करते हुए जाति व्यवस्था के खिलाफ दृढ़ता से खड़ा होना भी महत्वपूर्ण घटना है।

1.5.2 जागर

गाथाओं में दूसरा वर्ग पौराणिक गाथाओं का है पर ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है। तीसरा वर्ग धार्मिक गाथाओं का है। यहाँ इनके लिए हम ''जागर'' शब्द प्रयोग करते हैं। जिन स्थानीय गाथाओं का आधार कोई धार्मिक अनुष्ठान या लोक विश्वास है और जो तंत्र–मंत्र, पूजा व देवता नचाने की क्रिया से सम्बन्ध रखते हैं, उन्हें हम धार्मिक गाथा कहते हैं। जागरों को हम तीन भागों में बॉट सकते हैं।

- देवी–देवताओं के जागर

- सहायक शक्तियों के जागर
- शासकों के जागर

देवी–देवताओं तथा सहायक शक्तियों के जागरों से तत्वकालीन समाज, जातीय द्वंद्व आदि की जानकारी मिलती है। परन्तु शासकों के जागरों से हम कई ऐतिहासिक तथ्य तलाश सकते हैं। उत्तराखण्ड में स्थानीय शासकों की जागर गाथाओं में धामदेव, बिरमदेव (ब्रह्मदेव) तथा जियारानी (कत्यूरी शासकों) तथा हरू (चंद) आदि के जागर प्रचलित हैं।

धामदेव, ब्रह्मदेव के जागरों में गाथा गायक कहता है कि इन्होंने गढ़पतियों को छोटा और छोटों को ऊंचा बना दिया। उल्टी नाली (अन्न मापक यंत्र) से देते थे और सीधी नाली से भरकर लेते थे। (उल्टी नाली ले दीनी, सुल्टी नाली ले भरी बेर लिनी), तरूणी, स्त्रियों, भेड़, बकरियों, फल फूलों को नहीं रहने देते थे और खाली पनचक्की के लिए भी कर बसूलते थे (बाजि घटै की भाग उघौनी)। बिरमदेव ने धर्म विरूद्ध आचरण कर अपनी मामी तिला उर्फ तिलोत्तमा से विवाह कर लिया आदि–आदि।

अतः उक्त जागरों से उक्त शासकों के अन्यायपूर्ण शासन का पता चलता है। धामदेव ब्रह्मदेव, के शासन काल का वर्णन पूर्व में मालूसाही गाथा में भी आ चुका है।

1.5.3 वीर गाथाएं

चौथा वर्ग वीर गाथाओं का हैं, जिन्हें उत्तराखण्ड में भड़ौ, या पवाड़े कहा जाता है। स्थानीय वीरों, शासकों की युद्ध सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत शौर्य सम्बन्धी गाथाएं इसके अन्तर्गत हैं। मौखिक साहित्य में ऐतिहासिक रूप से जिन गाथाओं का सर्वाधिक महत्व है वे वीरगाथाएं ही हैं। इन्हें हम दो भागों मं बॉट सकते हैं।

- कत्यूरी–चंद–पंवार राजाओं से सम्बन्धित
- विभिन्न जातीय वीरों से सम्बन्धित

कत्यूरी राजाओं में प्रीतम देव, धाम देव, विरमदेव आदि के वृतांतों से उनके राज्य, स्थिति एवं शौर्य का परिचय होता है। विरमदेव को खिमसारी हाट में रहने वाला बताया गया है, जिसके अनेक मंत्री व रानिया थीं, विशाल प्रथा थी तथा मनोरंजन के लिए वैश्याएं थीं।

चंद राजाओं में उदयचंद, रतनीचंद, विक्रमचंद, भारतीचंद और ज्ञानीचंद के भड़ौ अधिक प्रचलित हैं। ये सभी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति हैं और गाथाओं में तथा इनके सम्बन्ध जनश्रुतियों में पर्याप्त समानता मिलती है। ज्ञानीचंद का व्यक्तित्व अधिक प्रधान है, जो कि स्वयं वीर पुरूष था। नीलू कठायत, अजुवा बफौल, कुंजीपाल, कीर्तिपाल और सौनूं–विरमू जैसे वीरों के नाम इसके साथ जुडे हैं। इसने कुमाऊँ में 1374 से 1419 तक राज्य किया और लोक परम्परा के अनुसार मुहम्मद तुगलक के साथ शिकार खेलते हुए वीरता प्रदर्शन के कारण 'गरूड़' की उपाधि प्राप्त की। विक्रमचंद को आरम्भ में दानशील किंतु बाद में

भोग–विलास प्रिय कहा गया है। भारतीचंद को एक लोकप्रिय, साहसी, वीर व चरित्रनिष्ठ शासक बताया गया है। पंवारों में जगदेव पंवार की गाथा गढ़वाल में प्रचलित है।

जातीय वीरों की गाथाओं में झकरूवा रौत, रामी बौर, भियॉ कठैत, अजुवा बफौल, माधोसिंह भंडारी, कफ्फू चौहान, सकराम कार्की, तीलू रौतेली आदि अनेक वीरों के भड़ौ गाये जाते हैं।

सूक्ष्मता से वीर गाथाओं का अध्ययन करने पर अनेक तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं, समकालीन प्रमुख व्यक्तियों, आचार–विचारों, रीति प्रथाओं, भोजन पदार्थो, यात्रा मार्गो, सैन्य सज्जा, पहनावा, आभूषणों आदि पर प्रकाश पड़ता है। भोजन के संदर्भ को ही लें तो लोक गायक झूसिया दमाई छत्तीस प्रकार के भोजन और बतीस प्रकार का बखान करते हैं। भोजन हैं– झरझरया, पुवा बावर, खरगल खाजा, मरगल माछा, हींग फुलोरा, गुछिफिन बावर। वाद्य यंत्र है– ढोल, तम्बोल, सितार, मुरूली, मृदंग, तप्पकरताल, कहाल कस्ताल, झाली नंगारा। अस्त्र शस्त्र हैं– ढाल वांको, वाल वांको, दान्तरी–खेतरी वाको, चिल्ला काली ढाल, पंच हतरिया भयो (अर्थात पॉच अस्त्र–शस्त्रों से लैस हुआ)।

उक्त वृत्तांत झूसिया दमाई द्वारा गायी गयी वीर गाथा संग्राम कार्की या सकराम कार्की का है। संकराम कार्की चंद राजा त्रिमलचंद के समय का वीर था। गाथा के अनुसार संग्राम कार्की का युद्ध गढ़वाल के राजा मानशाह के साथ भी हुआ। इतिहासविदों के अनुसार त्रिमलचंद ने 1625–1638 ई0 तक शासन किया और उस समय गढ़वाल में महिपत शाह (1624–1631) तथा पृथ्वी पति साह (1631–1667) ने शासन किया और मानशाह के शासन का समय (1591–1611) है। पर यहाँ यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि झूसिया दमाई वीर गाथा सुना रहे हैं न कि हू ब हू इतिहास। उसमें इतिहास के तत्व तो इतिहास के विद्यार्थी को तलाशने हैं। क्योंकि वीरगाथाएं अतिश्योक्तिपूर्ण व अतिरंजना पूर्ण होती हैं।

इसके अतिरिक्त वीरगाथा गायक कत्यूरी, चंदो, पंवारो आदि की वंशावली भी सुनाते हैं। यह वंशावलियाँ भी इतिहास जानने का एक स्रोत हैं।

1.6 सारांश

मौखिक परम्परा वस्तुतः मनुष्य की विकास यात्रा के विभिन्न पहलुओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचने का एक सशक्त माध्यम रही हैं। यह परम्परा लोक जीवन का आधार है, क्योंकि पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराई जाने वाली इस परम्परा में विचार, अनुभवजन्य ज्ञान, संघर्ष, हर्ष, विषाद, मनोभाव, आशाएं, आकांशाए, तत्कालीन इतिहास, समाज, द्वन्द्व आदि सहजता से झलकते हैं।

मौखिक परम्परा में वर्णित इतिहास हू ब हू अभिलेखीय इतिहास की तरह नहीं होता। क्योंकि लोक गायक पीढ़ी–दर–पीढ़ी उसमें अपने–अपने समय की बहुत सी बातों को भी जोड़ देते हैं। क्योंकि लोक हमेशा प्रवाहमान रहा है। हो सकता है वह किसी मध्यकालीन शासक के हाथ में तलवार की जगह बन्दूक थमा दें।

पर इतिहास के विद्यार्थियों को तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर मौखिक परम्परा का विश्लेषण कर उसमें से ऐतिहासिक तत्वों को तलाशने का प्रयास करना चाहिए।

उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा बहुत समृद्ध रही है। बहुत सी परम्पराओं का विलोप हो चुका है। कुछ अभिलेखित हो चुकी है और बहुत सा अभिलेखीय होना बांकी है। इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण वीर गाथा गायन तो अब लगभग विलुप्ति के कगार पर है। इतिहास के विद्यार्थियों को चाहिए कि जहाँ कहीं भी वीर गाथा को सुनें उन्हें किसी वीर गाथा गायक का पता चले तो उसे ऑडियो–विडियो–लिखित रूप में संकलित करने का प्रयास करें।

यह पहले उल्लेख हो चुका है कि मौखिक परम्परा इतिहास जानने का एक स्रोत होती है न कि इतिहास। परन्तु सूक्षम्ता से विश्लेषण करने पर हमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के तत्व मालूम होते हैं। खासकर जनता के दुःख–दर्द तथा शासकों के अत्याचार विभिन्न रूपकों–मुहावरों के माध्यम से लोकगीतों–गाथाओं–मुहावरों–किंवदंतियों में सुरक्षित रहते हैं। साथ ही तत्कालीन समाज, जातीय द्वन्द्व, महत्वपूर्ण जातीय समूह, तत्कालीन भोजन, वस्त्र, आभूषण, यात्रा, मार्ग, मान्यताऐं, अस्त्र–शस्त्र आदि सभी का जिक्र लोक साहित्य में आता है।

मौखिक परम्परा आदम से लेकर आधुनिक मानव समाज की विकास यात्रा का लेखा–जोखा है। इसके विभिन्न अर्थ संकेतों में युग की गति व समाज की निर्णायक शक्तियों को आसानी से देखा जा सकता है। क्योंकि लोक संस्कृति में मनुष्य की विकास यात्रा के विभिन्न चरण, उन तक पहुँचने में उनका संघर्ष आदि मौजूद रहते हैं। लोक की मौखिक परम्परा में सृष्टि रचना से लेकर वर्तमान तक मनुष्य की विकास यात्रा के चित्र देखने को मिलते हैं। जाति विशेष की अभिलाषाएं जिन्हें उचित अभिव्यक्ति और संतोष नहीं मिल पाता कालान्तर में चुपके से ऐसे रास्ते ढूँड निकालती हैं जिन्हें सहज स्वभाव मानव स्वीकार कर लेता है और उसकी रागात्मक प्रवृत्तियाँ उन्हें संजो लेती हैं सदा–सदा के लिए।

1.7 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

इकाई 1.3

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो?
   - क. संस्कार गीत
   - ख. नृत्य गीत
2. निम्न प्रश्नों के उत्तर दो?
   - क. ऋृतु सम्बन्धी गाथा कौन सी है।
   - ख. कृषि गीतों के अन्तर्गत क्या आता है।
   - ग. उत्तराखण्ड की प्रमुख प्रणय गाथा कौन सी है।

घ. उत्तराखण्ड में वीरगाथाओं को क्या कहा जाता है।

इकाई 1.4

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो?
   क. तिलै धारो बोला
   ख. जो रूद्रचंद के आली तो रामचंद्र की नाली
2. गोरखों के बारे में प्रचलित प्रसिद्ध मुहावरा क्या है?

इकाई 1.5

1. मालूसाही किनकी प्रणय गाथा है?
2. लोक गाथा के अनुसार मालूसाही का काल कौन सी सदी में बैठता है?
3. उत्तराखण्ड में प्रमुखतः किन शासकों के जागर लगाये जाते हैं।
4. चंद राजाओं में किनके भड़ौ अधिक प्रचलित हैं?

1.8 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3

1. क. देखें– 1.3.1
   ख. देखें– 1.3.1
2. क. देखें– 1.3.2
   ख. देखें– 1.3.1
   ग. देखें– 1.3.2
   घ. देखें– 1.3.2

इकाई 1.4

1. क. देखें– 1.4.1
   ख. देखें– 1.4.2
2. देखें– 1.4.2

इकाई 1.5

1. देखें– 1.5.1
2. देखें– 1.5.1
3. देखें– 1.5.2
4. देखें– 1.5.3

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डबराल, शिव प्रसाद : उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग– 1–12, दोगडा, गढ़वाल।
2. पाण्डे, बद्रीदत्त : 1937 : कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा।
3. पाण्डेय, त्रिलोचन : 1962, 75 : कुमाऊँ का लोक साहित्य, अल्मोड़ा।
4. भट्ट, हरिदत्त शैलेश : 1976 : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, लखनऊ।
5. चातक, गोविन्द : 1958 : गढ़वाली लोक कथाएं, देहरादून।
6. पोखरिया, देवसिंह : 1994 : कुमाऊँनी भाषा, साहित्य और संस्कृति, अल्मोड़ा।
7. बलूनी, दिनेश चंद्र : 2001 : उत्तरांचल : संस्कृति, लोकजीवन, इतिहास एवं पुरातत्व।
8. बाबुलकर, मोहनलाल : 1964 : गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन।
9. जोशी, प्रयाग : 1971 : कुमाउँनी लोकगाथाएं, बरेली।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा पर निबन्ध लिखो?
2. मालूसाही गाथा का वर्णन करते हुए उसमें ऐतिहासिक तथ्य तलाशो?
3. उत्तराखण्ड में वीर गाथा गायन पर प्रकाश डालो?